ISSN 0975-850X

अनुसंधान शोध त्रैमासिक

वर्ष : 4, जनवरी–मार्च 2013

केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा से सहयोग प्राप्त

सम्पादक

डॉ. शगुफ़्ता नियाज़

असि. प्रोफेसर हिन्दी,
वीमेन्स कॉलेज,
अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़

सलाहकार सम्पादक

डॉ. एम. फ़ीरोज़ अहमद

हिन्दी विभाग,
हलीम मुस्लिम पी. जी. कॉलेज,
चमनगंज, कानपुर
09044918670

अनुसंधान पत्रिका अब इंटरनेट पर भी उपलब्ध **www.vangmay.com**

सम्पादकीय कार्यालय :

205- ओहद रेजीडेंसी, नियर पान वाली कोठी, दोदपुर रोड, सिविल लाइन, अलीगढ़-202002
vangmaya@gmail.com, shaguftaniyaaz@gmail.com
Mob- 09044918670

सहयोग राशि :

एक प्रति : 40/– रु., वार्षिक शुल्क संस्थाओं के लिए : 220/– रु., द्विवार्षिक शुल्क संस्थाओं के लिए : 380/– रु., आजीवन सदस्य : 1500/– रु., संस्थाओं के लिए आजीवन : 2,000/–

सम्पादन/संचालन :
अनियतकालीन, अवैतनिक और अव्यावसायिक।
रचनाकार की रचनाएँ उसके अपने विचार हैं।
रचनाओं पर कोई आर्थिक मानदेय नहीं दिया जाएगा।
लेखकों, सदस्यों एवं मित्रों के आर्थिक सहयोग से पत्रिका प्रकाशित होती है।
उनसे सम्पादक-प्रकाशक का सहमत होना अनिवार्य नहीं है।
किसी भी विवाद के लिए न्याय क्षेत्र अलीगढ़ होगा।
अलीगढ़ से बाहर का चेक स्वीकार नहीं होगा।

शुल्क भेजने का पता :

मनीआर्डर या बैंक ड्राफ़्ट : 'डॉ. शगुफ़्ता नियाज़' **या** 'अनुसंधान' **के नाम**
205- ओहद रेजीडेंसी, नियर पान वाली कोठी, दोदपुर रोड, सिविल लाइन, अलीगढ़-202002 (उ.प्र.)

डॉ. शगुफ़्ता नियाज़ की ओर से डॉ. शगुफ़्ता नियाज़ द्वारा प्रकाशित, डॉ. शगुफ़्ता नियाज़ द्वारा मुद्रित तथा रुचिका प्रिंटर्स दिल्ली में मुद्रित एवं ***बी-4, लिबर्टी होम्स, अब्दुल्लाह कॉलेज रोड, अलीगढ़-202002*** से प्रकाशित।

सम्पादकीय

आजकल ज्यादातर कॉलेजों और विश्वविद्यालयों में विद्यार्थियों की उपस्थिति संख्या कम होती जा रही है जिससे शिक्षा में लगतार गिरावटें भी आ रही है। सरकार द्वारा प्रति वर्ष अनेक राजकीय एवं स्ववित्तपोषित महाविद्यालयों की स्थापना की जा रही है एवं छात्रों को ''छात्रवृत्ति विवरण एवं शुल्क मुक्ति'' जैसे आकर्षक योजनाओं के द्वारा महाविद्यालय में जाने के लिए प्रेरित भी किया जा रहा है लेकिन इसका विपरीत परिणाम दृष्टिगत हो रहा है। छात्र वर्ष पर घर पर रहकर भी पूरी छात्रवृत्ति प्राप्त कर रहे हैं। यूँ कहे कि अब छात्र केवल छात्रवृत्ति के लिए महाविद्यालयों में दाखिला ले रहे हैं। जब छात्र महाविद्यालयों में उपस्थिति ही नहीं होगें तो उनकी शिक्षा की सार्थकता केवल कोरी कल्पना रह जायेगी।

डॉ. नगमा जावेद मलिक ने अपने लेख 'विज्ञापनों में हिंदी' का स्वरूप में स्पष्ट किया है कि जैसे-जैसे समय परिवर्तित हो रहा है वैसे-वैसे मान्यताएँ और मूल्य भी परिवर्तित हो रहें है। जिनका सीधा प्रभाव समकालीन भाषा पर पड़ता है। जो भाषा समय के साथ चलती है वो विकसित हो जाती है और जो इस शर्त पर खरी नहीं उतरती वो मृतप्राय हो जाती है। जिसके उदाहरण के रूप में हम संस्कृत को देख सकते है। लेकिन डॉ. नगमा जावेद ने हिंदी की उस ताकत का विस्तार से चर्चा की है जो समकालीन समय में हिंदी विश्व भाषा के रूप में उभर रही है।

डॉ. हितेश चौरे ने 'कालिदास के साहित्य में त्याग, तपस्या और तपोवन' में महाकवि के महाकाव्यों को त्रिवेणी के रूप में स्पष्ट किया है। चाहे वो महाकाव्य रघुवंश हो अथवा कुमार संभव इन दोनों महाकाव्यों में हमें कालिदास के त्याग, तपस्या और तपोवन के दर्शन होते है।

राजेश यादव ने केशव प्रसाद मिश्र की समस्या प्रधान औपन्यासिक कृति 'काली दीवार : एक अध्ययन' प्रस्तुत किया है। जिसमें 1935 से 1950 तक के समय को प्रतीकात्मक रूप में स्पष्ट किया गया है। चाहे वो सामंतशाही हो या फिर अंग्रेज़ों की गुलामी से मुक्ति या फिर स्त्री-पुरुष के परस्पर संबंध हो। राजेश यादव जी ने इस औपन्यासिक कृति में समकालीन यथार्थ को उभारने की कलात्मक कोशिश की हैं।

मारकंडे पाठक ने 'कुबेरनाथ राय के निबंधों की शैली' लेख में कुबेरनाथ राय के अभिव्यक्ति पक्ष को उभारने की कोशिश की है। जिसमें उन्होंने भावनात्मक, विचारात्मक, व्यंग्यात्मक और आत्माभिव्यंजक शैली को स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

डॉ. दीपक कुमार ने 'विवेकीराय के काव्य में यथार्थ के स्वर' लेख में यह दिखाने का प्रयास किया है कि प्रत्येक कवि अपने राष्ट्र और संस्कृति की उपज होता है और जो भी वह लिखता है उसमें युगीन यथार्थ अवश्य प्रकट होता है। इस कसौटी पर विवेकीराय का काव्य खरा उतरता है।

डॉ. हरिनाथ ने अपने लेख 'समकालीन हिंदी कथा साहित्य में सांप्रदायिक मनोवृत्ति' में यह दिखाने का प्रयास किया है कि समकालीन समय में समाज के प्रत्येक क्षेत्रों में नवीन संबंध पनप रहें है। जिनमें सांप्रदायिक मनोवृत्ति अपने विकृत रूप में विकसित हो रही है।

डॉ. ज़ाहिदा जबीन ने 'कहर, कसक और कश्मीर' में कश्मीर के जीवन को शब्दबद्ध करने की कोशिश की है। जिसके शीर्षक से ही स्पष्ट हो जाता है कि कश्मीर में होने वाले तरह-तरह के कहर से अपनों की कसक जीवन सताती है। इस लेख में कश्मीर के वातावरण पर लिखा उपन्यास 'एक कोई था कोई नहीं सा' को आधार बनाया गया है।

आचार्य नंददुलारे वाजपेयी का शिक्षा-संबंधी विवेचन लेख में मनोज कुमार सिल ने स्पष्ट किया है कि बेशक आज आचार्य जी के शिक्षा संबंधी विचार काफी समय पहले के है लेकिन आज भी उनके विचार उतने ही सार्थक है जितने अपने समय में थे।

सौरभ कुमार ने 'उत्तर-आधुनिकताः साहित्यिक संदर्भ' लेख में उत्तर-आधुनिकतावाद को आधुनिकता की कड़ी के रूप

में स्थापित करते हुए उसके प्रभाव को साहित्य के संदर्भ में देखने का प्रयास किया है।

डॉ. दयाल प्यारी सिन्हा ने 'समकालीन महिला नाटककारों के नाटकों में युग-चेतना' लेख में नाटक और समकालीन समय को एक सूत्र रूप में स्पष्ट करने का प्रयास किया है। जिसके परिणामस्वरूप युग-चेतना जीवंत हो उठती है।

दलबीर सिंह ने 'अकविता के संदर्भ में जगदीश चतुर्वेदी का काव्य' लेख में अकविता के सम्प्रत्यय को स्पष्ट करते हुए इस अकविता के आंदोलन में जगदीश चतुर्वेदी की भूमिका को शब्दबद्ध किया है।

वंदना शर्मा ने 'नारी-मानवाधिकार:सुशीला टाकभौरे की आत्मकथा' लेख में मानवाधिकार के संप्रत्यय को स्पष्ट करते हुए नारी के मानवाधिकार की चर्चा की है। और इसी दृष्टि से सुशीला टाकभौरे की आत्मकथा शिंकजे का दर्द को देखने का प्रयास किया है।

बबीता भण्डारी ने अपने लेख 'झोपड़ पट्टी : जीवन का यथार्थ नारी के संदर्भ में' दिखाया है कि किस प्रकार नारी प्राचीन काल से ही दोयम दर्जे की नागरिक है और आज तक वह इस मानसिकता से मुक्त नहीं हो पायी है। तो इस समाज में झोपड़ पट्टी अर्थात् निम्न स्तर की नारी का यथार्थ और भी कटु है।

डॉ. शेख शहनाज अहमद ने 'मंजुल भगत की कहानियों में कामकाजी नारी की संवेदना' लेख में समकालीन कहानीकार मंजुल भगत के कथा साहित्य को आधार बनाया है। जिसमें उन्होंने यह दिखाया है किस प्रकार मंजुल भगत की कहानियों में नारी संवेदना उभरकर सामने आती है।

अखिलेश कुमार ने 'वैश्वीकरण के संदर्भ में हिंदी : दशा और दिशा' लेख में विश्व की भाषाओं और भाषा परिवारों की चर्चा करते हुए उसमें हिंदी भाषा के स्थान का निर्धारण किया है कि किस प्रकार आज हिंदी, विश्व भाषा अंग्रेज़ी को चुनौती देते हुए, स्वयं को विश्व भाषा के रूप में स्थापित कर रही है।

डॉ. एन. टी. गामीत ने 'आदिवासी कविताओं में प्रति-रोध का स्वर' लेख में आदिवासियों के संबंध में सामान्य जानकारी देते हुए आदिवासी साहित्य में आदिवासी कविताओं पर विस्तार से चर्चा की है। जिसमें उन्होंने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि इन कविताओं में प्रतिरोध का स्वर कहाँ तक अभिव्यक्त हुआ है। जिसमें आदिवासी जीवन भी सजीव रूप से सामने आया है।

डॉ. रेशमा बेगम ने अपने लेख 'जीवन-मूल्यों के क्षरण की दास्तान : रेगिस्तान' में कमलेश्वर के प्रतीकात्मक उपन्यास रेगिस्तान को विश्लेषण का विषय बनाया है जिसमें उन्होंने गाँधीवादी मूल्यों का क्षरण होते हुए देखा है और आज के संदर्भ जो व्यक्ति इन मूल्यों के अनुसार अपना जीवन व्यतीत करता है। तो उसका जीवन रेगिस्तान जैसा हो जाता है। जिसका यथार्थ रूप हम उपन्यास के नायक के रूप में देख सकते है। इसके अलावा उत्तर आधुनिकता के समय में हिंदी के अस्तित्व के संकट पर लेखिका ने सवाल भी उठाया है जो हमे सोचने के लिए विवश करता है।

डॉ. इकरार अहमद ने 'इस्लाम की रोशनी में स्त्री विमर्शः खुदा की वापसी' में इस्लाम की दृष्टि से स्त्री-विमर्श को देखने का प्रयास किया तथा उन लेखिकाओं पर सवाल खड़ा किया जो स्त्री-विमर्श अथवा स्त्री हितों की चर्चा करते हुए इस्लाम के सिद्धांतों एवं इस्लाम पर प्रहार करती है। डॉ. इकरार इस प्रवृत्ति को आज फैशन के रूप में देख रहें है और इसी संदर्भ पर प्रहार करते हुए खुदा की वापसी की कहानियों में मुस्लिम समस्याओं को जीवंत रूप में देखते है।

डॉ. श्रीप्रकाश यादव ने बौद्ध धर्म का आध्यात्मिक पक्ष और हिंदी लेखन में बौद्ध धर्म के आध्यात्मिक पक्ष के विभिन्न पहलुओं की चर्चा करते हुए भक्तिकाल और छायावादी युग में इसके प्रभाव की प्रमाणिक खोज करते है और उत्तर आधुनिकता के समय में भी इसके प्रभाव को देखते है।

शगुफ़्ता

अनुक्रम

विज्ञापनों में हिंदी का स्वरूप

डॉ. नगमा जावेद मलिक

विज्ञापन उत्पादक और उपभोक्ता के बीच एक संवाद होता है। यह सेतु का काम करता है। केन्द्र में होता है उत्पाद। उत्पादक का लक्ष्य होता है ज्यादा बिक्री- ज्यादा मुनाफा। उपभोक्ता का लक्ष्य होता है, कम से कम खर्च करके अधिक से अधिक संतुष्टि। दोनों ही अपने लक्ष्य में चौकस होते हैं।

पहला संवाद उत्पादक की ओर से शुरू होता है। वह अपने उत्पाद के प्रति अधिक से अधिक लोगों को आकर्षित करने के लिए, उत्पाद को इस प्रकार प्रस्तुत करता है कि अधिक से अधिक लोगों का ध्यान उसकी ओर आकर्षित हो और इस हद तक वस्तु उसे भा जाए कि वह उसे लेने के लिए खुशी-खुशी अपनी जेब खाली करने के लिए तैयार हो जाए। बाज़ारू भाषा में कहें तो विज्ञापन का लक्ष्य किसी वेश्या की तरह ग्राहकों को अपनी ओर आकर्षित करने की कला में निहित है।

जैसा कि हम सभी जानते हैं कि आज दुनिया एक बड़ा बाज़ार बन चुकी है। उपभोक्तावादी और बाज़ारवादी संस्कृति में विज्ञापन कला ने केन्द्रीय स्थान प्राप्त कर लिया है। आज वह विशिष्ट व्यवसाय के रूप में फल-फूल रही है। मुझे याद आ रहा है बचपन में कितनी आवाज़ें मुझे अपनी ओर आकर्षित करती थीं...''लैला की उँगलियाँ हैं/मजनूं की पस्लियाँ हैं/ पतली-पतली/ताज़ा-ताज़ा ककड़ियां हैं।''

कितनी मिठास भरी, लययुक्त और काव्यमय भाषा होती थी अपनी चीज़ की ओर आकर्षित करने की और महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यह उन लोगों की भाषा थी जिन्होंने 'अलिफ' से अनार, 'बे' से बकरी भी नहीं पढ़ा होता था। इसी तरह गर्मियों की तपती दोपहर में एक बड़ी सुरीली आवाज़ गूंजती थी...'तर कर ले/तर कर ले/नीम्बू वाली है'

नीम्बू का शरबत यानी लेमन-जूस बेचने का कितना निराला तरीका था। गर्मी में प्यास से बहाल, सूखते गलों को अपनी ओर आकर्षित करने की कला से कितना परिचित थे वे लोग। इसी तरह एक और आवाज़ मेरे कानों में गूँज रही है.. ...दूधिया गोले/ताज़ी तोड़े।।

कच्चे नारियल को बेचने के लिए वे ग्राहक को बेहद संक्षिप्त ढंग से बतलाते थे कि दूध जैसे सफेद और साथ ही यह बतलाना भी नहीं भूलते थे कि भैया! ताज़ा माल है हमारे पास बासी-वासी नहीं उठा लाए हैं। एक और आवाज़-'गंडेरी गुलाब वाली है/ठण्डी-ठण्डी मतवाली/गंडेरी गुलाब वाली है।'

ठेले पर गन्ने की गंडेरियां होतीं, नीचे गुलाबी प्लास्टिक बिछा होता और ऊपर पारदर्शी बर्फ की सिल होती और उसके ऊपर गुलाब के खूबसूरत, महकते फूल अपनी बहार दिखलाते ...यानी दृश्य भी मन-लुभावना होता और लहकती आवाज़ भी कानों में रस घोलती-'हर माल ढाई-ढाई आने/ओ भाई।/ओ बहन।/आ गया हूँ मैं/आज/अपना माल लुटाने/हर माल ढाई-ढाई आने।'

मैंने माँ से पूछा था ''यह ढाई-ढाई आने में ही माल क्यों बेचते हैं सीधे-सीधे तीन आने में क्यों नहीं बेचते?''

तब माँ ने बताया था कि ढाई आने में जो कशिश व सुर है, जोर लगाना पड़ता है, वह तीन आने में नहीं। दूसरे ढाई आने में चीज़ सस्ती लगती है जैसे बाटा के जूतों के दाम 999 या 294.99 पैसे होते हैं।

यह मसी-कागद से नवाकिफ फेरी वाले भी मानव मनोविज्ञान की कितनी गहरी समझ और सूझ-बूझ रखते थे। हैरानी होती है।

यह था अतीत-विज्ञापन वहाँ भी थे, अपनी बिसात, बूते व सामर्थ्य के अनुसार वे लोग भी अपने माल की ओर लोगों को खींचते थे, रिझाते थे। उस समय भी दीवार पर ब्रूकबांड का बड़ा-सा लाल डिब्बा बना होता था और इसी तरह दूसरे विज्ञापन भी-कुछ केवल दृश्य होते थे, कुछ दृश्य और श्रव्य दोनों। वह छोटी-सी दुनिया थी, छोटा-सा बाज़ार था।

आज पूरी दुनिया एक बड़े गाँव में बदल चुकी है। बाज़ारवाद और उपभोक्तावाद का दौर-दौरा है।

इलेक्ट्रॉनिक मीडिया सब पर हावी है। मुंबई शहर में ही रात के समय बड़े-बड़े साइनबोर्ड अपनी आँखें झपका-झपका कर लोगों को अपनी तरफ आकर्षित करते हैं।

एक विशेष बात इन विज्ञापनों की भाषा अधिकतर हिंदी होती है। खासतौर पर उन विज्ञापनों की जिनका संबंध निम्न और मध्य वर्ग से होता है। काव्यात्मक शब्दों का प्रयोग पहले भी था, आज भी है। क्योंकि कविता या काव्य में दिलों को बांध लेने की शक्ति अधिक होती है। दूसरे नए, चौकाने वाले शब्द या वाक्य लोगों का ध्यान जल्दी खींचते हैं और स्मरण शक्ति के चौखटे में तस्वीर की तरह फिट हो जाते हैं। फ्रेंक ब्रेस्वी के शब्दों में कहें तो- ''विज्ञापन मुद्रित, लिखित, उच्चरित अथवा चित्रित विक्रय कला है।''[1]

विज्ञापनों का उद्देश्य जानकारी देना, निवेदन करना, प्रेरणा देना, रुचि उत्पन्न करना, सूचना देना, स्मृति में अपनी जगह बना लेना है। अंग्रेज़ी में इसका समानार्थी शब्द है एडवरटाइजमेन्ट।

''यदि विज्ञापन आकर्षक, प्रभावपूर्ण व सरस है तो विज्ञापित वस्तु की माँग पर अनुकूल प्रभाव पड़ सकता है।''[2] अब अगर उत्पादक चाहता है कि मेरी वस्तु अधिक बिके तो उसे उस भाषा का प्रयोग करना होगा जो आम लोगों की भाषा है। इसीलिए आज भी हिंदी ही विज्ञापनों की भाषा है क्योंकि यही वह इकलौती भाषा है जिसे कमोबेश हर व्यक्ति उत्तर से लेकर दक्षिण तक और पूरब लेकर पश्चिम समझ ही लेता है। जादू वह जो सिर चढ़कर बोले। देशी कंपनियां तो क्या विदेशी कम्पनियां भी अपना उत्पाद बेचने के लिए हिन्दी में ही विज्ञापन देती हैं। अब हम यह देखने का प्रयास करेंगे कि विज्ञापनों में हिंदी का स्वरूप कैसा है ?

पहली बात तो यह है कि भाषा की रेल हमेशा समय की पटरी पर ही दौड़ती है। समय के अनुसार यदि भाषा अपने आपको नहीं बदलेगी तो मर जाएगी। जब हम हिंदी पर नज़र डालते हैं तो संतोष होता है कि हिंदी बाज़ार में खड़ी है लेकिन उसकी मुखमुद्रा में बाज़ारूपन नहीं आया है।

माल बेचने का माध्यम तो ज़रूर बनी है किन्तु बिकाऊ नहीं हुई है। सुधीश पचौरी का कहना है - ''विज्ञापन चोरी-चुपके फुसलाने की क्षमता रखने वाली विद्या है।''[3]

विज्ञापन का सुनहरा उसूल है- जैसा देश वैसा भेष। गाँव में उत्पाद बेचना है तो गाँव की बोली, शहर में बेचना है तो शहर की भाषा। आज ग्लोबलाइजेशन का एक पहलू यदि आपसदारी है तो दूसरा पहलू बाज़ारीकरण यानि कि एक देश का माल दूसरे देश में खपाना है। बदलती हिंदी की नई तस्वीर-आज की हिंदी बिंदास है। सारे बंधनों को तोड़ कर मुक्त हिंदी। जिसमें अंग्रेज़ी और उर्दू के बेशुमार शब्द इस तरह घुल-मिल गए हैं जैसे दूध में शक्कर।

यह भाषिक शुद्धता और व्याकरण की कुछ कैदों से भी आज़ाद हो गई है। हिंदी को व्यावसायिक जगत की सर्वप्रमुख भाषा बनाने का श्रेय विज्ञापनों को ही जाता है। आज की नई पौध ने अंग्रेज़ी और हिंदी का एक ऐसा मिश्रण तैयार किया है जिसे हिंग्लिश कहते हैं। विज्ञापनों में इसका बड़ा रोचक प्रयोग हो रहा है। विज्ञापन है Santro का। पति नई गाड़ी घर लेकर आता है।

पति और पत्नी के बीच संवाद देखिए-

''पहली गाड़ी हो तो ऐसी।''

''बिल्कुल लो मैनटेनेंस।''

पत्नी- ''फिर थोड़ी-सी मिठाई भी।''

पति- ''चलाने में क्या मजा और सेफ भी।''

पत्नी- ''फिर फूल भी।''

पति- ''और माइलेज 15 से भी ज्यादा।''

पत्नी- ''फिर म्यूजिक भी।''

पति- ''12 लाख से भी ज्यादा लोग यों ही santro वाले नहीं बने।

पति- ''अरे यह घर को क्या हुआ?''

पत्नी- ''आखिर पहली गाड़ी है न!''

पति- ''santro inc।''

इसमें पति-पत्नी के बीच संवादों में गाड़ी की सारी खूबियां ब्यान की गई हैं। इस विज्ञापन में अंग्रेज़ी और उर्दू के शब्द भी हैं। विज्ञापन हिंदी भाषा में दिया गया है।

टाटा टी का विज्ञापन भी बड़ा खूबसूरत है।

बहू अपनी सास से पूछती है ''ममी! आपकी लव मैरिज हुई थी या अरेंज?''

ममी जी ''ऑफ कोर्स! लव मैरिज।''

बहू ''लव मैरिज, वह भी उस जमाने में।''

ममी जी- ''यह जब मेरे घर बारात लेकर आये तो घोड़ी पर बैठे थे। मैं भागकर बालकनी में गई।

मैंने उन्हें देखा। उनकी नज़र ऊपर उठी। हम दोनों की नजरें मिलीं और हो गया प्यार।

क्यों? हुई ना लव मैरेज।

इसमें अंग्रेज़ी, हिंदी, उर्दू का मोहक त्रिकोण है। साथ ही समय के बदलाव का भी संकेत दिया गया है और रोचकता तो बेमिसाल है। विज्ञापनों में हिंदी का जैसा रूप मिलता है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।

विज्ञापन का लक्ष्य होता है रोचक से रोचक और प्रभावपूर्ण तरीके से अपने माल को प्रस्तुत करना, ताकि लोग उसे खरीदने के लिए लालायित हो जाएँ।

यहाँ भाषा का व्याकरण नहीं 'अर्थ' और दृश्य का व्याकरण देखा जा सकता है। हिंदी विज्ञापनों में शब्दों की

मितव्ययता देखते ही बनती है। शब्दों की बचत के लिए कबीर की बात बड़ी ठीक है- 'सार-सार को गहि रहे, थोथा देय उड़ाए।

''विज्ञापन की भाषा सामान्य भाषा ना होकर विशिष्ट भाषा होती है तथा उसकी यह विशिष्टता उसके व्याकरण नियमों की निर्बंधता में होती है तथा अपने कथ्य, विचार य भाव को प्रभावोत्पादक सिद्ध करने के लिए वह अभिधात्मक रूप ग्रहण करने की अपेक्षा व्यंजनात्मक हो जाती है।''[4]

ध्वन्यात्मकता और काव्यात्मकता का पुट कानों में रस घोलता है। सरस तुकबंदी मन को आकर्षित करती है।

हिंदी का लालित्य, मिठास और सरलता ने ही हिंदी को लोकप्रिय बनाने में सहायता की है। अगर देखा जाए तो विज्ञापनों ने हिंदी को नई अर्थवत्ता, नई भावभंगिमा, नया अंदाज, नई दृष्टि, नए तेवर, नया एहसास, नई तरंग दी है। तो यह कहना गलत नहीं होगा कि विज्ञापनों ने हिंदी की कुंठाओं और गाठों को खोला है। हिंदी में जो पारिभाषिक शब्दावली तैयार हुई है उसमें से अक्सर शब्दों का जनाजा बड़ी धूम-धाम से निकल चुका है-''विज्ञापनकर्ता विज्ञापित वस्तु की गुणवत्ता दिखाने के लिए कभी-कभी तुलनात्मक दृष्टि अपनाता है और ऐसी स्थिति में वह परोक्ष रूप से विज्ञापन की भाषा में तुलना का माध्यम ग्रहण करता है।''[5]

यथा- ''सर्फ की खरीदारी में और भी समझदारी है।''

एक बहुत मशहूर विज्ञापन जिसकी आवाज़ कानों में दिन-रात गूंजती है कितना भला लगता है-दूध-सी सफेदी/निरमा से आये।/रंगीन कपड़ा खिल-खिल जाए/सबकी पसंद निरमा/वाशिंग पाउडर निरमा।

इसमें उपमा भी है और बड़ी प्यारी लय और आवाज़ का जादू भी।

हिंदी विज्ञापन के माध्यम से सामाजिक और धार्मिक सद्भावना को भी आम जनता तक पुरअसर ढंग से पहुँचाया जा सकता है-मंदिर मस्जिद गुरुद्वारों में/बाँट दिया भगवान को/धरती बांटी, सागर बांटा/मत बांटो इंसान को।

यह वह हिंदी है जो दिलों पर राज करती है। इंसान अरबी भाषा का शब्द है लेकिन हिंदी ने उसे आत्मसात् कर लिया है। बृजमोहन गुप्त का कहना है- ''सम्प्रेषण पूरा कब होता है? जब एक कुशल सम्प्रेषक, उपयोगी संदेश उपयुक्त माध्यम से प्रभावशाली विवेचन(ट्रीटमेंट) के जरिये सही पाठक को पहुँचा कर उसे वांछित प्रतिक्रिया के लिए प्रेरित करता है।''[6]

मुहावरों ने हिंदी विज्ञापनों को अधिक कारगर और दमदार बनाया है-कर लो दुनिया मुठ्ठी में।

'इरादा है बिजलियाँ गिराने का तो तरीके हमारे पास हैं' रेमंड शॉप।

क्या आप चाहते हैं कि फासला आपके कदम चूमे।

पड़ोस वाले प्रशंसा के पुल बाँधते नहीं थकेंगे।

आप की खूबसूरती में चार-चाँद लगाए।

परिचित शब्दों का प्रयोग विज्ञापनों की जान है। अप्रस्तुत विधानों से भी विज्ञापन सशक्त बनते हैं। उपमा, रूपक आदि का प्रयोग भी विज्ञापनों में धड़ल्ले से होता है-

मोती से फूटती हुई ज्योति की सी कुदरती चमक देखिए-

फूलों जैसी ताजी मधुर सुगंध।

पंखड़ियों-से मुलायम।

वाक्याशों का प्रयोग हिंदी विज्ञापनों में होता रहा है।

हर बजट में समाए रैड लेबल चाय, अब दस, बीस और पच्चीस रुपयों के किफायती पैक में।

संग-संग रहने की उमंग।

शुद्धता की पहचान, टाटा नमक।

सात साल के बच्चों से लेकर 60 साल के बूढ़ों तक।

पूरे परिवार के लिए आदर्श उपहार लाइफबॉय मैल में छुपे कीटाणुओं को धो डालता है

सर्दी-जुकाम, मुन्ने की नींद हराम।

दातों का रखे ख्याल, ना दिखें बूढ़े सालों साल (कोलगेट टूथपेस्ट)

लाइफबॉय है जहाँ तंदरुस्ती है वहाँ।

प्रश्नवाचक वाक्य भी विज्ञापनी हिंदी में अक्सर देखने को मिलते हैं-

उसकी कमीज मेरी कमीज से सफेद क्यों ?

सिर दर्द से परेशान ?

कौन-सी साइकिल में गाढ़े पसीने की कमाई का पैसा लगाना ठीक रहेगा ?

क्या आपका टूथपेस्ट दांतों की सड़न का मुकाबला कर रहा है ?

विस्मयबोधक प्रयोग भी हिंदी विज्ञापनों में खूब चलते हैं-ऐसी लज्जत और कहाँ!/फिर देखिए, क्या बात बनती है!/गोल्ड का जवाब कहाँ?/ऐसी निराली महक और कहाँ?

क्रियाविहीन वाक्यों के प्रयोग से भी भाषा में संक्षिप्तता और प्रभावोत्पदाकता आती है-कमाल की ताज़गी-ताज़ा चाय।/बिल्कुल सोने जैसा खरा।/सर्दी के दिनों में गर्मी का अहसास।

संयुक्त वाक्यों का प्रयोग भी हिंदी विज्ञापनों में प्रायः किया जाता है- स्वस्थ दांत और मसूड़े, सांसों में ताज़गी, यही तो प्रामिस है।

जरा दम लेना हो तो चार मीनार की बात ही और है।

ग्राहकों का ध्यान आकर्षित करने के लिए विचलन का प्रयोग भी होता है। इससे कथ्य में नई अर्थ भंगिमा भी आती है-सफेदी की चमकार/दूध के बतन से आए/प्यास की असली पसंद

क्रिया विचलनों के प्रयोग से भी हिंदी विज्ञापनों को नई शान मिलती है-खामोशी को जुबां मिली, जब कपड़े बोल उठे/आई सफेदी लहराती, खुली हवा में बल खाती

पुनरूक्ति से भी विज्ञापन असरदार और लुभावने बनते हैं- फैशन का एक नया नाम, नया एहसास, नए फैशन का नया विलास।

भाषा बदपरहेजी करने से ही सेहतमंद, तंदरुस्त और तवाना बनती है। अगर आज हम ईमानदाराना तौर पर हिंदी भाषा का जाएज़ा लें तो स्पष्ट रूप से दिखाई देगा कि हिंदी में काफी बड़ी संख्या में उर्दू के शब्द शामिल हैं।

कौन बनेगा करोड़पति? प्रोग्राम में अमिताभ जब भौंपू शब्द का प्रयोग करते थे तो कितना भला लगता था। अनपढ़ से लेकर पढ़े-लिखे सभी को यह आत्मीय स्पर्श का एहसास कराता है गंवारपान की कोई गंध उसमें नहीं है। यही हिंदी की शक्ति का परिचायक है।

''सूचना प्रौद्योगिकी के नवीन आविष्कारों ने हिंदी के साहित्यिक स्वरूप से आगे बढ़कर उसके प्रयोजनमूलक रूप को अधिक विस्तार दिया है तथा इसे कामकाज हिंदी के साथ व्यावसायिक हिंदी हिंदी के रूप में स्थापित करने का प्रयास किया है और आगे हो रहा है, क्योंकि अब हिंदी भी उद्यम है।''[7] विज्ञापन को तुक में बांधने के लिए काव्यात्मकता लाने के लिए किसी भी भाषा के शब्दों का प्रयोग किया जा सकता है-संडे हो या मंडे रोज खाओ अंडे।

ले चल मुझे वहाँ, सपनों का देश हो जहाँ।

गार्डन की साड़ियां, पहनती हैं, सुन्दर नारियां।

रेशमी, कोमल, मुलायम बाल, यह है पैराशूट का कमाल।

आयोडेक्स मलिए, काम पर चलिए।

सार्थक विशेषणों का प्रयोग भी प्रायः विज्ञापनों में होता है- ठण्डी-ठण्डी मज़ेदार हवा का आनंद उठाइए। (खेतान पंखा)

कोमल, सुन्दर, घने, मुलायम, काले, चमकीले बाल।

बेहतर सफेदी लाने के लिए (रिन)

विज्ञापनों की भाषा का दारोमदार विज्ञापित वस्तु पर होता है। माँ के दूध का विज्ञापन देखिए-

बच्चों को स्तनपान कराएं, अपने माँ होने का दायित्व निभाएं। माँ का दूध, सर्वोत्तम दूध।

अंग्रेज़ी में क्या इतना सामर्थ्य है कि दूसरी भाषा के शब्दों को पचा सके ।

हिन्दुस्तानी ने कहा-देखो रे शान

अंग्रेज ने उसे कर दिया-डेकोरेशन

विज्ञापनों ने हिंदी को विश्व भाषा के रूप में प्रतिष्ठित किया है। अगर हम अंग्रेज़ी को ढो रहे हैं तो उसकी जड़ें हमारी मानसिकता में हैं। हिंदी नहीं बिगड़ रही है। हम बिगड़ रहें हैं। हिंदी का कुसूर इतना है कि वह गले-गले तक हमारा साथ दे रही है। क्या अंग्रेज़ी में इतना सामर्थ्य है कि वह हिंदी भाषा के शब्दों को पचा सके। विज्ञापनों ने हिंदी को विस्तार देने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

आज विज्ञापन ने एक कला का स्थान ले लिया है। इसमें कलाकर्मियों, विज्ञापन एजेंसियों के नामी विशेषज्ञों और साथ ही मनोवैज्ञानिकों से भी सलाह ली जाती है।

आज मैचिंग शब्द को ही लीजिए। देहाती गंवार भी इस शब्द का बड़ी बेतकल्लुफी से प्रयोग कर रहें हैं। यह हिंदी की सामर्थ्य ही है कि उसने संस्कृत की तरह अपने आप को दीवारों में कैद नहीं किया, इसीलिए फलफूल रही है। विज्ञापनी हिंदी सशक्त है, समय की आवाज़ है हर भाषा तक उसकी परवाज है और यही उसकी ताकत का राज है, अगर वह दूसरी भाषा के शब्दों से परहेज करेगी तो बीमार पड़ जाएगी और बीमारी ज्यादा खिंची तो मर जाएगी। किन्तु रोचक बात यह है कि आम बीमारी के लिए परहेज ज़रूरी होता है किन्तु भाषा के संबंध में इसका उल्टा है। भाषा खा-पीकर ही बलवान बनती है।

विज्ञापनों में हिंदी का दिल धड़कता है या हिंदी के दिल में विज्ञापन धड़कते हैं। बात तो एक ही है। विज्ञापनी हिन्दी ने घेरों को तोड़ा है। लेकिन यह भी ध्यान रखना है कि हमें अन्धानुकरण करके हिंदी की पहचान को ही नहीं खो देना है। हिंदी की अस्मिता को बनाए रखते हुए हमें उसे अघिक से अधिक सशक्त और सम्प्रेषणीय बनाना है।

अंत में मैं कहना चाहूंगी कि-''बड़ी सशक्त, जीवंत और खूबसूरत/होती है वह जबान/दूसरी भाषाओं के शब्दों को/मिलती है जिसमें अमान।/हिंदी की है यही शान/इसी ने दी है उसे एक नयी पहचान,

सन्दर्भ-

1. विज्ञापन माध्यम एवं प्रचार, विजय कुलश्रेष्ठ, प्रतुल अथइया, पृ. २
2. समाचार पत्रों की भाषा, डॉ. माणिक मृगेश, पृ. 107
3. मीडिया और साहित्य, सुधीश पचौरी, पृ. 37
4. विज्ञापन माध्यम एवं प्रचार, पृ. 19
5. वही, पृ. 121
6. जनसंचार विविध आयाम, बृजमोहन गुप्त, पृ. 114
7. बहुवचन- प्रो. विजय कुलश्रेष्ठ (हिंदी की अंतर्राष्ट्रीय त्रैमासिक पत्रिका) जनवरी-मार्च 2008, पृ. 96

कालिदास के साहित्य में त्याग, तपस्या और तपोवन

डॉ. हितेश चौरे

महाकवि के महाकाव्य त्याग, तपस्या और तपोवन की त्रिवेणी है। रघुवंश हो अथवा कुमारसंभव दोनों ही महाकाव्यों में त्याग एवं तपस्या के उदात्त उदाहरण देखने को मिलते हैं।

रघुवंश का तो प्रारम्भ ही त्याग और तपस्या के सिद्धान्त से होता है कवि ने रघुवंशी राजाओं के त्यागी एवं तपस्वी जीवन का वर्णन करते हुए कहा है -'त्यागाय सम्भृतार्थानां सत्याय मितभाषिणाम्।/यशसे विजिगीषूणां प्रजायै गृहमेधिनाम्।।' (रघुवंश 1.7)

'रघुवंशी राजाओं का जीवन ही त्याग के लिये था। वे अपने प्राणों को त्याग करके भी अपने आश्रितों की रक्षा करते थे। राजा दिलीप इसके उत्तम उदाहरण थे। नन्दिनी की सेवा करते हुये दिलीप उसकी सब प्रकार से रक्षा करते हैं।'

एक बार जब नन्दिनी सिंह के चुंगल में फँस जाती है। तब दिलीप अपने शरीर का त्याग करके भी गाय को बचाने का प्रयास करते हैं। वह सिंह से कहते हैं -'स त्वं मदीयेन शरीरवृत्तिं देहेन निर्वर्तयितुं प्रसीद।/दिनावसानोत्सुकबालवत्सा विसृज्यतां धेनुरियं महर्षेः।।' (रघुवंश 2.45)

'तुम मुझे ही खाकर अपनी भूख मिटा लो और महर्षि वशिष्ठ की इस गाय को छोड़ दो क्योंकि इसका नन्हा-सा बछड़ा सांझ के समय इसकी राह देख रहा होगा।'

दिलीप के ऐसा कहने पर सिंह को भी आश्चर्य होता है क्योंकि कोई भी व्यक्ति जो एक छत्र राज्य का स्वामी हो, यौवन से भरपूर हो और सुन्दर शरीर का स्वामी हो वह एक गाय के लिये इतना सब कैसे त्याग सकता है ?

अतः वह दिलीप से कहता है- 'एकातपत्रं जगतः प्रभुत्वं नवं वयः कान्तमिदं वपुश्च।/अल्पस्य हेतार्बहु हातुमिच्छन्विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम्।।' (रघुवंश 2.47)

'हे राजन! ऐसा लगता है कि तुममें यह सोचने की शक्ति भी नहीं रह गई है कि तुम्हें क्या करना चाहिए क्योंकि एक साधारण गाय के पीछे तुम इतना बड़ा एकछत्र राज्य, यौवन और ऐसा सुन्दर शरीर छोड़ने को उद्यत हो गये हो।'

रघुकुल की यह रीत है कि पुत्र को राज-पाट सौंप कर पिता वन को चला जाये। राजा दिलीप अपने कुल की परम्परा का यथोचित रूप से निर्वहन करते हैं। त्याग एवं तपस्या का अद्भुत संगम उनके चरित्र में देखने को मिलता है- 'अथ स विषयाव्यावृन्तात्मा यथाविधि सूनवे नृपति कुकुदं दत्वा यूने सितातपावारणम्।/मुनिवनतरूच्छायां देव्या तया यह शिश्रिये गलितवयसामिक्ष्वाकुणामिदं हि कुलवृतम।'

'तब सांसारिक विषयों से मुँह मोड़े हुए राजा दिलीप ने अपने नवयुवक पुत्र रघु को विधिवत् छत्र, चँवर आदि राजचिह्न दे दिये और देवी सुदक्षिणा के साथ तप करने के लिये मुनियों के आश्रम की राह ली क्योंकि इक्ष्वाकुवंश के राजाओं में यह बात कुल परम्परा से चली आई है कि वे बूढ़े होकर जंगल में जा कर तप करने लगते हैं।'

त्याग के संदर्भ में देखा जाये तो राम एवं भरत दोनों का ही त्याग महान् है। एक ने पिता की आज्ञा से राज्य का त्याग किया तो दूसरे ने भाई के प्रति भक्ति दिखाते हुये राज्य का अधिग्रहण नहीं किया। भरत ने राम की खड़ाऊ को राजगद्दी पर रखकर राम के राज्य की देखभाल की -'स विसृष्टस्तयेत्युक्तवा भ्राता नैवाविशत्पुरीम्।/नन्दिग्रामगतस्तस्य राज्यं न्यासमिवाभुनक।।' (रघुवंश 12.18)

'तब राम ने अपनी खड़ाऊ दे दी। उसे लेकर भरत जी लौट पड़े, परन्तु वे अयोध्या नहीं आयें उन्होंने नन्दिग्राम में डेरा डाला और वहीं से अयोध्या के राज्य की उसी प्रकार रक्षा की, जैसे अपने भाई की धरोहर सम्भाल रहे हों।'

यदि भरत चाहते तो राज्य के एकछत्र स्वामी बन सकते थे परन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। अतः भरत का त्याग सर्वोपरी माना जाता है। भरत के त्याग एवं तपस्या की श्रेष्ठता की प्रशंसा करते हुए राम कहते हैं -'पित्र विसृष्टां मदपेक्षया यः श्रियं युवाऽप्यङ्कगतामभोक्ता।/इयन्ति वर्षाणि तया सहोग्रमभ्यस्यतीव व्रतमासिधारम्।।'

'जैसे कोई सुन्दर स्त्री किसी युवा पुरुष के गोद में आकर बैठ जाये और वह उसके साथ भोग न करके तलवार की धार पर चलने के समान कठोर इन्द्रियों को वश में रखने का

व्रत ले ले, वैसे ही भरत ने भी पिता की दी हुई राज्यलक्ष्मी को भोगने की शक्ति होते हुए भी मेरे कारण उसका भोग न करके कठिन असिधार व्रत का पालन किया है।'

भरत के त्याग की जितनी प्रशंसा की जाये उतनी कम है। राम भी त्याग की प्रतिमूर्ति के रूप में हमारे समक्ष आते हैं। पहले तो वे राज्य का त्याग करते हैं। तदन्तर उन्हें अपनी पत्नी देवी सीता का भी त्याग करना पड़ता है। राम बड़े ही भारी मन से सीता का त्याग करते हैं। प्रजा के मन में राजा के प्रति द्वेष न पनपे इसलिए उन्होंने सीता का त्याग को ही उचित समझा - 'निश्चित्य चानन्यनिवृत्ति वाच्यं त्यागेन पत्न्याः परिमार्ष्टुमैच्छत।/अपि स्वेदेहात्किमुतेन्द्रियार्थाद्यशोधनानां हि यशो गरीयः।।' (रघुवंश 14.35)

'किन्तु वह कलंक मिटाने का कोई दूसरा उपाय नहीं था। इसलिए उन्होंने निश्चय कर लिया कि सीता को त्याग कर ही इस कलंक को मिटाया जाय क्योंकि यशस्वियों को अपना यश शरीर से भी अधिक प्रिय होता है। फिर स्त्री आदि भोग की वस्तु की तो बात ही न्यारी है।'

राम विचार करने लगे कि मेरे कारण ही यह पवित्र कुल कलंकित हो रहा है जो मेरे लिये असहनीय है। अतः इस कलंकित के परिमार्जन हेतु सीता का त्याग ही उचित है।

महाकवि कालिदास ने कुमारसम्भव में भी त्याग एवं तपस्या के महत्त्व का प्रतिपादन किया है। शिव घोर तपस्वी है। अपनी पत्नी सती के अपने पिता दक्ष के यहाँ हवन कुण्ड में भस्म हो जाने के पश्चात् सर्वस्व त्याग कर वे तपस्या में लीन हो जाते हैं-'तत्राऽग्निमाधाय समित्समिद्धं स्वमेव मूर्त्यन्तरमष्टमूर्तिः।/स्वयं विधाता तपसः फलानां केनापि कामेन तपश्चचार।।'(कुमारसंभव 1.57)

'उसी पर्वत-शिखर पर सब तपस्याओं के स्वयं फलदाता शिवजी अपनी दूसरी मूर्ति अग्नि को समिधाओं से सुलगाकर न जाने किस फल की इच्छा से तप करने लगे।'

शिवजी इतने तपस्वी हैं वही पार्वती जी भी कुछ कम तपस्वनी नहीं हैं। उनका तप तो और भी कठोर है। जब शिवजी कामदेव को भस्म करके पार्वती जी को वहीं छोड़कर वहाँ से चले जाते हैं तो तब पार्वती जी अपने सौन्दर्य को कोसने लगती है और तप करके शिवजी को प्राप्त करने का मन में निश्चय करती है-'इयेष सा कर्त्तुमवन्ध्यरूपतां समाधिमास्थाय तपोभरात्मनः।/अवाप्यते वा कथमन्यथा द्वयं तथाविधं प्रेम पतिश्च तादृशः।।'(कुमारसंभव 5.2)

'यह सोचकर उन्होंने मन में ठान लिया कि जिसे मैं अपने रूप से नहीं रिझा सकी उसे अब समाधिस्थ मन से तपस्या करके प्राप्त करूंगी। ठीक ही है, क्योंकि ऐसा अनोखा प्रेम और ऐसा अनोखा पति भला कहीं बिना तपस्या के भी मिल सकता है?'

उनका तप कठोर से कठोरतम होता गया। तपस्या की अवस्था में उन्होंने चंचलता त्याग दी। अपना समस्त सुख त्यागकर पार्वती जी तपस्या में लीन हो गई। तप करते समय वह एकदम शान्त हो गई-'पुनर्गृहीतुं नियमस्थाया तथा द्वयेऽपि निक्षेप इवार्पितं द्वयम।/लतासु तन्वीषु विलासचेष्टितं विलोलदृष्टं हरिणाङ्गनासु च।।'(कुमारसंभव 5.13)

'तपस्या के समय वे इतनी शान्त हो गई थी कि जैसे उतने समय तक के लिये उन्होंने अपना हाव-भाव कोमल लताओं में सौंप दी हो।'

पार्वती जी शिवजी को प्राप्त करने के लिये हर सम्भव प्रयास करने को तत्पर हो जाती है। जब अनेक प्रकार के तप पर भी शिवजी प्रसन्न नहीं होते तब वे कठोर तप करने का निश्चय करती हैं- 'यदाफलं पूर्वतपः समाधिना न तावता लभ्यममंस्त काङ्क्षितम्।/तदानपेक्ष्य स्वशरीरमार्दवं तपो महत्सा चरितुं प्रचक्रमे।।' (कुमारसंभव 5.18)

'जब पार्वती जी ने देखा कि इन प्रारम्भिक नियमों से काम नहीं बनता, तब उन्होंने अपने शरीर की कोमलता का विचार त्यागकर अति कठोर तपस्या आरम्भ कर दी।'

वे अपने चारों ओर अग्नि प्रज्वलित करके उसके मध्य में खड़ी हो गई। सूर्य में टकटकी लगाकर सूर्य के भी प्रकाश को मानों जीत लिया हो ऐसा प्रतीत होता था। शीत, ग्रीष्म एवं वर्षा में भी कठोर तप करती रहीं। उनका तप इतना कठोर था कि उनके सामने अन्य तपस्वियों का तप भी कम लगने लगा -'मृणालिकापेलवमेवमादिभिर्व्रतैः स्वमङ्गग्लपयन्त्यहर्निशम्।/तपः शरीरैः कठिनैरुपार्जितं तपस्विना दूरमधश्चकार सा।।'(कुमारसंभव 5.29)

'कमलिनी-सदृश अपने कोमल अंगों को इस प्रकार की कठिन तपस्या से रात-दिन सुखाकर पार्वती जी ने कठोर शरीर वाले तपस्वियों को भी मात कर दिया।'

इस प्रकार कुमार सम्भव में भी कवि ने त्याग एवं तपस्या का उचित समायोजन किया है।

रघुवंश में त्याग एवं तपस्या का अद्वितीय संगम देखने को मिलता है साथ ही कवि ने यह भी समझाने का प्रयास किया है कि सीमा में रहकर किये गये भोग ही उचित है तथा समय आने पर समस्त भोगों का त्याग उचित है।

जीवन में तप का विशेष महत्त्व है। इससे शरीर में ओज एवं तेज की प्राप्ति होती है। इसके विपरीत आचरण करने पर शरीर को स्वास्थ्य हानि का सामना करना पड़ता है। त्याग एवं तप से दूर रहकर मात्र भोग-विलास का जीवन व्यक्ति को

असमय ही मृत्यु के मुख में पहुँचा देता है। इसका उदाहरण उन्होंने राजा अग्निवर्ण के रूप में दिया हैं।

राजा अग्निवर्ण मात्र भोग लिप्सा में ही रत था। अतः वह पुत्र का मुख देखे बिना ही कम अवस्था में ही मृत्यु को प्राप्त हुआ। अतः जीवन में त्याग एवं तपस्या का विशेष महत्त्व समझना चाहिए।

कालिदास ने अपनी रचनाओं में त्याग एवं तपस्या पर विशेष रूप से बल दिया है। उनके नाटकों में भी यह गुण मूर्त रूप में दिखाई देता है। अभिज्ञान शाकुन्तलम् में भी कवि ने त्याग, तपस्या एवं तपोवन की त्रिवेणी का प्रवाह अनवरत रूप से दिखाया है।

नाटक का प्रारम्भ ही कण्व के आश्रम में दुष्यन्त के प्रवेश से होता है। तपोवन में आते ही दुष्यन्त को एक आश्चर्यजनक सुखानुभूति होती है। वह साथी से कहता है कि बिना बताये ही ज्ञात हो रहा है कि हम आश्रम के तपोवन में आ पहुँचे हैं क्योंकि -'नीवाराः शुकगर्भकोटरमुखभ्रष्टास्तरूणामधः/प्रस्निग्धाःक्वचिदिङ्गुदीफलभिदःसूच्यन्त एवोपलाः।/विश्वासोपगमादभिन्नगतयः शब्दं सहन्ते मृगा- स्तोयाधारपथाश्च वल्कलशिखानिष्यन्दरेखाङ्किताः।।' (अभिज्ञान शाकुन्तलम् 1.14)

'कहीं वृक्षों के नीचे, सुग्गो के घोंसलों से गिरे हुए तिन्नी के दाने बिखरे पड़े हैं,। कहीं इधर-उधर पड़े हुऐ चिकने पत्थर यह बतला रहे हैं कि इन पर हिंगोट के फल कूटे गये हैं, कहीं निडर खड़े मृग इस विश्वास से रथ का शब्द सुन रहे हैं कि आश्रम में हमें कोई नहीं छेड़ेगा और कहीं नदी नालों पर आने-जाने की राहों पर मुनियों के वल्कलों से टपकी हुई जल की रेखायें बनी हुई हैं।'

कवि ने तपस्या का महत्त्व बताते हुये तपस्वी जनों को राजाओं से भी श्रेष्ठ बताया है। राजा दुष्यन्त ऋषियों से प्राप्त होने वाले कर को अनूठा बताता है एवं उसके समक्ष रत्नों के ढेर को भी तुच्छ मानता है- 'यदुत्तिष्ठति वर्णेभ्यो नृपाणां क्षयि तत्फलम्।/तपः षड्भागमक्षय्यं ददत्यारण्यका हि नः।।' (अभिज्ञान शाकुन्तलम् 2.13)

'चारों वर्णों से हम राजाओं को जो कर मिलता है, उसका फल तो नष्ट हो जाता है किन्तु ये वनवासी ऋषि अपने तप का छठा भाग हमें देते है। जो कभी नष्ट नहीं होता।'

शकुन्तला सौन्दर्य की प्रतिमूर्ति होने पर भी तपस्वी जैसा जीवन व्यतीत करती है। वह वल्कल वस्त्रों को पहनती है। आभूषण-प्रिय होने पर भी वह फूलों को एवं पत्तों को वृक्षों के प्रति स्नेह के कारण नहीं तोड़ती है। वृक्षों को जल सिंचन के पश्चात् ही जो स्वयं पानी पीती है। एक तरह से वह भी तपस्या ही है तभी तो पति गृह-गमन के समय कण्व सभी वृक्षों से शकुन्तला की विदाई की आज्ञा मांगते हैं- 'पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या/नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्।/आद्येवः कुसुमप्रसूतिसमये यस्या भवत्युत्सवः/ सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम्।।' (अभिज्ञान शाकुन्तलम् 4.9)

शकुन्तला को पतिगृह हेतु विदा करने के पश्चात् कण्व स्वयं को बहुत ही हल्के मन वाला समझते हैं क्योंकि कन्या तो पराया धन होती है। जब तक उसकी विदाई नहीं हो जाती तब तक पिता निश्चिंत नहीं रह सकता है। कण्व कहते हैं शकुन्तला को पतिगृह भेजकर मुझे राहत मिली है क्योंकि -'अर्थो हि मन्या परकीय एव तामद्य सम्प्रेष्य परिग्रहीतुः।/जातो ममायं विशदः प्रकामं प्रत्यर्पितन्यास इवान्तरात्मा।।'(अभिज्ञान शाकुन्तलम् 4.22)

'कन्या सचमुच पराया धन ही होती है। आज उसे पति के घर भेजकर मेरा मन वैसे ही निश्चिंत हो गया है, जैसे किसी की धरोहर लौटा दी गई हो।'

राजा दुष्यन्त शापवश शकुन्तला को भूल जाता है। अनेक उपायों को करने पर भी उसे यह स्मरण नहीं आता कि शकुन्तला उसकी पत्नी है। वह दुविधा में पड़ जाता है -'मूढः स्यामहमेषावा वदेन्मिथ्येति संशये।/दारत्यागी भवाम्याहो परस्त्रीस्पर्शपांसुलः।।'(अभिज्ञान शाकुन्तलम् 5.29)

'या तो मैं भूल गया हूँ या ये झूठ कह रहीं है। अब मैं अपनी पत्नी को छोड़ने का पाप करूं अथवा पराई स्त्री को छूने का पाप सर लूं।'

इस प्रकार राजा अनेक दृष्टि से विचार करता है परन्तु स्मरण नहीं आने के कारण वह शकुन्तला का त्याग कर देता है। यह उसकी नैतिक उदात्ता ही है। अन्य कोई साधारण पुरुष इतनी अधिक सौन्दर्य राशि वाली स्त्री को यूं ही नहीं छोड़ सकता था परन्तु राजा ने शकुन्तला को पराई स्त्री समझ कर छोड़ दिया।

इस प्रकार शाकुन्तलम् में कवि ने त्याग एवं तपस्या के महत्त्व को बताया है।

अतिथि व्याख्याता, संस्कृत पालि एवं प्राकृत विभाग, रानीदुर्गावती विश्वविद्यालय, जबलपुर (म.प्र.) पिन कोड- 482001

काली दीवार : एक अध्ययन

राजेश यादव

'काली दीवार' केशव प्रसाद मिश्र की बड़ी सशक्त और समस्याप्रधान औपन्यासिक कृति है। इसमें सन् 1935 से 1950 तक के सामाजिक और राजनैतिक जीवन के चित्रण के साथ-साथ बदलते हुए आधुनिक युग से प्रभावित संबंधों के बदलाव का भी जोरदार चित्रण हुआ है। इस उपन्यास में 'काली दीवार' के तीन अर्थ परिलक्षित होते हैं- एक सामन्तशाही प्रवृत्ति की 'काली दीवार'-जिसको क्रमशः ढहते हुए लेखक ने दिखाया है। दूसरी 'काली दीवार' अंग्रेजों की गुलामी की 'काली दीवार' है- इसको भी उपन्यास में लेखक ने गिरते हुए दिखाया है। दीवार ढहने के क्रम और परिश्रम का अद्‌भुत और यथार्थ वर्णन लेखक की सफलता है। तीसरी 'काली दीवार' पति-पत्नी के संबंधों के बीच की है। यह 'दीवार' इस कृति में सबसे सशक्त रूप में उभरी है। इसको तोड़ने में लेखक ने काफी सोच विचार किया है। यही उपन्यास की अधिकारिक कथा भी हो जाती है। इसमें हृदय परिवर्तन के सिद्धान्त का सहज ही प्रयोग अन्त में दिखाई देता है। इस प्रकार तीनों काली दीवारों को तोड़ने के प्रयत्न में मिश्र जी की यह कृति सफल रही है।''[1]

इस उपन्यास का कथा-क्षेत्र बभनौली गाँव है। जो शहर से तीन मील दूर बसा है। इसके पड़ोस के गाँव-जीराबस्ती, ईश्वरपुरा, परिखरा और टकरसन हैं। इस उपन्यास की कथा आज़ादी पूर्व से लेकर आज़ादी प्राप्ति तक है। उपन्यास में रामबचन का बच्चन से यह कहना कि-''देश दुनिया का क्या हाल है-गाँधी जी, जवाहर लाल क्या कर रहे हैं। यह गुलामी कब तक जायेगी?'' वह आगे कहता है-''हम तो कब से तैयार है कि खून चूसने वालों का भारत से सफाया हो, अपने देश में अपना राज हो अथवा इस समय देश के नेताओं पर एक तरह का संकट आया हुआ है, हालांकि देश के सभी वरिष्ठ नेता छोड़ दिये गये हैं, लेकिन ये नेता अब देश की भावना को किसी बड़े आन्दोलन के लिए तैयार कर रहे हैं। समाचार पत्र से जितनी खबरें मिलती हैं, इससे लगता है देश में अब आग भड़कने वाली है.... से यह स्पष्ट है।''[2]

'काली दीवार' की कथा ठनठन तिवारी द्वारा अपने ही चचेरे भाई रामबचन पर किये मुकदमें के पैसे चुकाने को लेकर ठनठन तिवारी के यह कहने पर-''धर्म, रुपयों के आगे, धर्म, मान, अपमान, क्या अगर दस रुपये देकर मुझे कोई दस जूते मार भी ले तो मैं सहने को तैयार हूँ। कहने पर रामबचन उसे पाँच रुपये पकड़वाकर उसकी पीठ पर पाँच जूते जड़ देता है। जिसकी चर्चा सारे गाँव में होती है। पकवा मकान में बच्चन की बहू ही गौने के लिए पंडित को बुलवाकर तिथि निश्चित की जाती तो दूसरी ओर नौरंगावाली अहीरिन की बेटी कोट साहब के बेटे सुरेश से गर्भवती होती है, जिसकी जानकारी बहुआ को मिलने पर वह पैसे देकर अहीरिन की बेटी का गौना करवाने और यदि ऐसा न हो तो उसे गाँव छोड़कर जाना होगा, कहती है। बच्चन आने वाला है, सुनकर सखिया का मन खिल जाता है। सखिया की माँ बीमार है। कमला अपने मायके आती है तो दूसरी ओर बच्चन इलाहाबाद से घर आता है। उसके बाद वह मिसिर से मुलाकात करता है। रामबचन आज़ादी के बारे में बच्चन से पूछता है तो बच्चन उसे समझाता है। वह छोटे मियाँ से भी मिलता है। बहुआ की इच्छा है कि मरने से पहले सभी लड़कों के हिस्से बाँट दिये जाय। बार-बार मनाने पर बच्चन गौने के लिए तैयार होता है, तो दूसरी ओर शहर में नेहरू जी का आगमन होता है। बच्चन रामबचन आदि को भाषण सुनने के लिये ले जाता है। बच्चन और उनके मित्र गाँव में चबूतरा बनाकर उस पर झण्डा फहराने का निर्णय करते हैं। उनका सपना है कि गाँव में ग्राम सभा भी बनेगी। अनन्त चौदस के दिन पकना मकान में सत्यनारायण की कथा या आयोजन होता है। जहाँ एक ओर बच्चन-सखिया का प्यार देखने को मिलता है तो दूसरी ओर हिन्दुओं के साथ मुसलमानों को भी दावत दी जाती है। जिसमें बहुआ की उदारता प्रकट होती है। इस घटना के माध्यम से उपन्यासकार ने हिन्दू-मुसलमान एकता की ओर संकेत किया है।''[3]

बभनौली में चबूतरा बनता है और उस पर छोटे मियाँ द्वारा झण्डा लहराया जाता है। दीपावली पर तिवारी चाचा जार खेलने जाते हैं, तो हारते हैं। दीपावली-भाई दूज के दिन पकवा

मकान में रौनक लौट आती है। जिसके साथ बच्चन-सखिया की प्रेम कहानी भी चलती रहती है। एक ओर बच्चन की पत्नी के गौने की बात चलती है तो दूसरी ओर बच्चन-सखिया के पवित्र प्रेम की कथा-दोनों साथ-साथ चलती हैं। छोटी बहू का गौना होता है और वह (सत्या) ससुराल आती है। बच्चन की पत्नी के मुँह देखौना की दावत होती है। ठनठन तिवारी रामधनी साहू के गहने और पैसे, जो सहुआइन ने रखने के लिये दिये थे, न देकर बेईमानी करता है। रामबचन को आशा है कि अब आज़ादी दूर नहीं है। बच्चन-छोटे मियाँ की बातचीत से संकेत मिलता है कि सुभाषचंद्र बोस गाँधी जी का विरोध कर रहे हैं। बच्चन सुभाषचन्द्र बोस के भाषण का सार छोटे मियाँ को सुनाते हैं। बभनौली में पुस्तकालय के उद्घाटन का कार्यक्रम तय होता है और उसका उद्घाटन बच्चन से करवाया जाता है। मझली और बहुआ द्वारा सहुआइन के गहने-रुपये दबाने की बात का भंडाफोड़ होता है। तो सत्या से नाराज बच्चन वापस इलाहाबाद जाने को निकलता है। सत्या का भी बच्चन के साथ इलाहाबाद जाने का मन है किन्तु बच्चन सखिया के समझाने पर भी नहीं मानता और अकेला इलाहाबाद चला जाता है। वापस घर पर आने पर बच्चन निराश होता है तो सत्या उसे प्रोत्साहित करती है। सत्या कॉलेज जाने के बहाने कलकत्ते गौने पर चली जाती है। यह कॉलेज जाने के बहाने शरद से मिलती है, जहाँ दोनों संभोग कर बैठते हैं। किन्तु दूसरी बार शरद को मिलने जाने पर सत्या को वास्तविकता भान होता है कि शरद सिर्फ शरीर चाहता है। अतः वह शरद के घर से भाग निकलती है जिसके पीछे सईदा भी और तब सत्या को अपनी गलती का अहसास होता है। गाँव में गोभी की खरीददारी को लेकर रामबचन ठनठन को पीटता है। पकवा मकान में प्रेमा के ब्याह की तैयारी होने लगती है। बच्चन सत्या को जानता था अतः वह मैनावाली को प्रेमा की शादी में बुलाना नहीं चाहता, किन्तु कोर्ट साहब के कारण उसे चिट्ठी लिखी जाती है किन्तु फिर भी सत्या प्रेमा के विवाह में नहीं आती। सखिया मैनावाली को लेकर बच्चन को समझाती है। रात में सखिया के बच्चन के पास पहुँचने पर वह उसे अपने पास खींच लेता है।''[4]

बच्चन कानून की परीक्षा पास बभनौली आता है। जिसके कारण गाँव में परिवर्तन आता है किन्तु सत्या के कारण बच्चन उदास रहता है। देश में 1942 का आन्दोलन छिड़ता है, जिसमें बच्चन, लल्लूलाल और छोटे मियाँ की अंग्रेजों द्वारा गिरफ्तारी होती है। रामबचन भागने में सफल हो जाता है। किन्तु बाद में माँ की बीमारी के बहाने उसे पकड़वाया जाता है। वहाँ से भागने की कोशिश में उसे गोली लगती है जिससे एक टाँग काटनी पड़ती है और साल भर जेल में रहने के बाद उसे छोड़ दिया जाता है। लल्लूलाल को गाजीपुर और बच्चन को बनारस जेल भेजा जाता है। बच्चन के जेल जाने के कारण पकवा मकान में उदासी छा जाती है। बचपन का अलगाव सह न सकने के कारण बहुआ की मृत्यु की दस्तक सुनायी देती है। वह बच्चन को सम्भलते देखना चाहते थे, अतः जमीन की बँटवारा करने की बात करते हैं। बहुआ की मृत्यु के बाद प्रेमा बहुआ के गहने अपने पति को निकालकर दे देती है जिसके सदमें में ठनठन की पत्नी की मृत्यु हो जाती है। विधुर ठनठन दूसरी शादी करता है। कोट साहब घर-जमीन का बँटवारा कर देते हैं जिससे पकवा मकान में सभी के चूल्हे अलग जलना शुरू हो जाते हैं। कोट साहब की मृत्यु के बाद बच्चन-सखिया फार्म हाउस में रहने चले जाते हैं, मझली बहू-मायके चली जाती है। ठनठन की पत्नी उसके बेटे की ओर झुकने लगती है, तो ठनठन अपने बेटे की शादी कर देता है। इस प्रकार हमेशा भरा-पूरा रहने वाला पकवा मकान एकदम सूना हो जाता है। पकवा मकान के बँटवारे से ठनठन टूट जाता है तो बच्चन फार्म में रहने चला जाता है। ठनठन अपनी नयी पत्नी के तेवर और चाल-चलन से टूट कर बीमार हो जाता है। उसकी स्थिति इतनी दयनीय हो जाती है कि एक दिन तो जलेबी खाने के लिए रामबचन से वह पैसे माँगता है। ठनठन के बेटे रामलाल की साँप के डसने से मृत्यु हो जाती है तो दूसरी ओर घर में गहनों की चोरी होती है। पुलिस में रिपोर्ट दर्ज होने पर बिरजू जाँच के लिए पकवा मकान में आता है। परमेश्वर द्वारा यह पता चलता है कि गहने ठनठन की औरत ने अपने मायके पहुँचा दिये हैं। जिसमें परमेश्वर ने भी सहायता की थी। इस प्रकार बिरजू चोरी का भेद खोलता है।''[5] देश आज़ाद होता है। भारत का विभाजन होता है और पाकिस्तान का निर्माण। बच्चन उग रहा था तो ठनठन अस्त हो जाता है। एक ओर ठनठन की मृत्यु हो जाती है तो दूसरी ओर रामलाल की बहू बच्चे को जन्म देती है। पकवा मकान में नया चिराग जलता है। बच्चन फार्म में बराबर जम जाता है। सखिया अधिकतर उसके साथ ही रहती है। आठ साल के बाद सत्या अपने पिता के साथ बच्चन के फार्म पर आती है उसके पिता सत्या को स्वीकारने के लिए बच्चन को समझाते हैं। सत्या भी अपना पश्चाताप सखिया और बच्चन के सामने व्यक्त करती है किन्तु बच्चन टस से मस नहीं होता। अतः सत्या के पिता जी बच्चन-सत्या के रिश्ते को लेकर निराश हो कलकत्ते जाने का निर्णय करते हैं। बच्चन दोनों को छोड़ने स्टेशन जाता है। स्टेशन पर सत्या बच्चन के सामने अपना पश्चाताप और बीते सात सालों का दर्द व्यक्त करते हुए सखिया को बच्चन की रखैल के रूप में स्वीकार कर बच्चन के साथ रहने की अपनी तैयारी दिखाती है किन्तु फिर भी बच्चन

अड़ा रहता है। किन्तु स्टेशन पर ट्रेन के आने पर तथा सत्या के पिता जी के ट्रेन में बैठ जाने और सत्या के ट्रेन में चढ़ने से पहले बच्चन के पैर छूते हुए यह कहने पर कि-''जब तक अदालत से मुक्त न हो जाओगे, यह अधिकार तो रहेगा ही अदालत में मैं तो आऊँगी नहीं, कौन जाने यह अन्तिम भेंट हो। कानून, देह के नातों को तोड़ने में भले ही सफल हो जाये, मन के नाते कैसे टूट सकते हैं? सोचती हूँ उस मन में कहीं से कोई पछतावा न रहे।'' सुनने पर ''धूप से लाल चेहरे की डबडबाई आँखों की ओर ताकने से बच्चन अपने को रोक न सका। बिदा की उस अन्तिम घड़ी में, पत्नी की उदास, डूबती हुई याचक आँखें देख, जैसे ठण्डे शीशे पर गर्म जल पड़ने से शीशे के टूट जाने की तरह बच्चन भीतर से एकदम टूट गया, उसकी आँखें भर गयीं।'' और सत्या से बचाकर सावधानी पूर्वक तौलिए से ऑख पोछतें हुए, वह रतन सिंह से कहता है-''रतन सिंह, बहू जी का सामान उतार लो, ये कलकत्ते नहीं जायेंगी। इस प्रकार बच्चन सत्या को स्वीकार कर लेता है और दोनों का सुखद मिलन होता है। इस प्रकार 'काली दीवार' उपन्यास सुखान्त है, जिससे उपन्यास आदर्शवादी बन गया है।''[6]

इस उपन्यास में कथागत बिखराव है। पकवा मकान और कोट साहब के परिवार के इर्द-गिर्द कथा टुकड़ों में चलती है। कमला-तिवारी चाचा, छोटे मियाँ, मुंशी, मैनावाली का गौना आदि के प्रसंग छिट-पुट आते रहते हैं जिनके बीच बच्चन-सखिया की कथा धीमी गति से, किन्तु ठोस रूप में आगे बढ़ती है। बच्चन-सखिया नायक-नायिका के रूप में उभरते नज़र आते हैं।

कथा की गति धीमी होने के बावजूद उपन्यास की रोचकता में कोई कमी नज़र नहीं आती। इसमें उपन्यासकार एक ओर सत्या का शरद से मोह भंग और बच्चन की ओर लौटने का भाव चित्रित करते हैं तो दूसरी ओर बच्चन की सत्या के प्रति वितृष्णा और सखिया के संभोग का चित्रण करते कथानक को रोचक तो बना ही दिया है और उसे एक मोड़ भी देते है। मुख्य कथा बच्चन सखिया की है जबकि अन्य कथाएँ गौण के रूप में आयी है। उपन्यासकार ने एक-दो जगह पर विराधाभासी तथ्यों का उल्लेख किया है। जैसे-बिरजू के पकवा मकान में चोरी की जाँच के लिए जाने पर ठनठन की पत्नी को देखता है तो समझता है-''अपनी माँ की दिवंगता सखी की सौत, लगभग बीस-बाईस आयु वाली देह और दूसरे ठनठन की पत्नी के बारे में लिखते है-''वे मुँह पर घुँघट हटा कर, घूम कर आमने-सामने बैठ गयीं। पच्चीस-छब्बीस साल की हर ओर से भरी हुई देह।'' क्योंकि यह केशव प्रसाद मिश्र का पहला उपन्यास है, इसलिए इसमें भाषिक प्रौढ़ता में कमी स्वाभाविक है। फिर भी यह एक सशक्त उपन्यास है। इसमें तीन तरह के 'काली दीवार' का चित्रण कर लेखक ने अपनी सफलता प्रमाणित की है।''[7]

सन्दर्भ-

1. केशव प्रसाद मिश्र, काली दीवार की भूमिका, पृ. 5
2. केशव प्रसाद मिश्र, काली दीवार, पृ. 36
3. वही, पृ. 11
4. वही, पृ. 25-27
5. वही, पृ. 213-214
6. वही, पृ. 282-283
7. वही, पृ. 273

द्वारा- राम अधारे यादव, ग्राम रायपुर पोस्ट बाली (निचलौल), तहसील-निचलौल, जनपद-महराजगंज (उ.प्र.) 273304
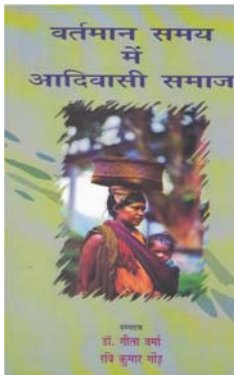
कुबेरनाथ राय के निबंधों की शैली

मारकन्डे पाठक

निबंध शैली से हमारा अभिप्राय अभिव्यक्ति पद्धति से है, किसी भी तथ्य या विषय को लेखक किस प्रकार व्यक्त करता है, उसमें कितनी सरसता, कोमलता एवं मधुरता ला सकता है, इसी की प्रधानता शैली में होती है। कुबेरनाथ राय की अभिव्यक्ति अनुभूति के समान बहुमुखी है, उसमें सरलता, गहनता, प्रतीकात्मकता, लाक्षणिकता, अलंकारिता तथा व्यंग्यात्मकता विशेष रूप से विद्यमान है। ललित-निबंध शैली की प्रधान विशेषता उसकी आत्मपरकता तथा वैयक्तिकता है। ये दोनों तत्त्व श्री राय जी के निबंध में प्रधान रूप से आये हैं। शब्द चयन एवं वाक्य रचना तथा भावाभिव्यक्ति की सारी विशेषताएँ उनके निबंधों में मिलती हैं। आप की शैली में सरुचि संपन्न व्यक्ति के लिए रोचकता एवं लालित्य है, सहृदय के लिए अखण्ड रागात्मकता है। मनीषी के लिए चिंतन-मनन पूर्ण बौद्धिकता है और साधारण व्यक्ति के लिए उनकी समय-सामयिक समस्याओं की ओर मनोरंजन संकेतों के साथ-साथ अनौपचारिक एवं हार्दिक बातचीत का रस विद्यमान है।

इस प्रकार कुबेरनाथ राय के निबंध-शैली को हम निम्नलिखित रूपों में रख सकते हैं-

1. भावनात्मक शैली

विषय की गहनता एवं दुरूहता को इन्द्रियबोधगम्य बनाने के लिए भावात्मक शैली का आश्रय ग्रहण करना पड़ता है। इस निबंध-शैली की प्रधान विशेषता इसकी रोचकता है। इसमें कल्पना, माधुर्य एवं औदार्य का वर्चस्व रस के लिए होता है। 'गूलर का फूल' निबंध में कुबेरनाथ राय ने इन समस्त विशेषताओं को समेटने का प्रयास किया है-''क्या कहूँ गूलर ने उत्तर दिया। मेरी शाखा पर तीन अतिथि आये हैं। विश्राम के लिए नहीं। मेरे मस्तक की शोभा-मेरा पुण्य दल देखने की अभिलाषा से मैं इन्हें कैसे समझाऊँ? मेरे पास फूल कहाँ? इन्हें निराश लौटना होगा। ऐसा फूल तो कभी नहीं, कहीं नहीं खिला, जैसा लोग कहा करते हैं। यह तो मनुष्य लोक के मोह के प्रतिरूप है।''[1] इसी प्रकार 'दर्पण-विश्वासी' निबंध में दर्पण को 'छैला तथा महायोगेश्वरौ हरिः की संज्ञा दी गयी है-''वाह रे भाई दर्पण, मैं यही समझता था कि तुम लोग नज़र लड़ाते हो, जो चेहरा जितना ही खूबसूरत होता है, वह उतनी देर तुम्हारी नज़र पर चढ़ा रहने की कोशिश करता है और तुम्हें बार-बार वैनिटी बैग से निकालकर तुम्हारा चंद्रमुख देखता है।''[2]

2. विचारात्मक शैली

विचारात्मक शैली में बुद्धि की प्रधानता होती है, इसमें चिंतनशील प्रवृत्तियाँ काम करती हैं। इसमें विषय पर गंभीरता पूर्वक विचार किया जाता है, कल्पना का समावेश नहीं होता, नैतिकता, तार्किकता, विवेचनशीलता, व्याख्यात्मकता, बौद्धिकता, मार्मिकता आदि की प्रधानता होती है। कुबेरनाथ राय के 'आधुनिक नयी और पुरानी आधुनिकता', 'अकर्म-कर्म की ओर', 'शिशु-वेद' तथा 'रसोपनिषद' के अंतर्गत आठ बोध कथाएं-'अमृत का जन्म ईश्वर के बाग में', 'मर्जार सूत', 'यज्ञ-प्रश्न', 'जम्बुक पंडित', 'शाप मोचन', 'माया-शबरी' तथा 'कर्म-पारिजात'। ये सभी निबंध लेखक की प्रबुद्ध चिंतन पद्धति, नूतन दृष्टि, नूतन पद्धति एवं नूतन अभिव्यंजना पद्धति के द्योतक हैं। जैसे 'आधुनिकता नयी-पुरानी' में लेखक ने आधुनिकता की असलियत क्या है, आधुनिकता की सृष्टि किन परिस्थितियों में होती हैं? आधुनिकता निज में कोई मूल्य या तथ्य है। वह एक स्वभाव, संस्कार प्रवाह या बोध प्रक्रिया है। आदि-आदि प्रश्नों पर बड़ी गंभीरता एवं मार्मिकता के अनुसार विचार किया है, इसलिए 'आधुनिकता, 'अकर्म से कर्म की ओर', नामक निबंध में लेखक ने क्या भारतीय आधुनिकता नकली है या दिखावटी? भारतीय परिवेश में यह आधुनिकता कमजोर एवं सीमित क्यों दिखायी देती है, भारतीय आधुनिकता कर्म की ओर प्रेरित करती है, अकर्म की ओर, आधुनिकता बोध की शर्तें कौन-कौन-सी हैं? इत्यादि प्रश्नों पर बड़ी गंभीरता से विचार किया है।

विचारात्मक शैली में विचारों की शृंखला को बनाये रखने के लिए लेखक विविध विषयों एवं तथ्यों पर विभिन्न तरह के

विचार व्यक्त करता है। वैचारिक वैविध्यता, शिक्षा, समाज, दर्शन को लेकर हो सकता है, कुबेरनाथ राय सर्वहारा संस्कृति के संदर्भ में कहते हैं-''सर्वहारा संस्कृति की आवश्यकता क्यों पड़ी? जब पूँजीपतियों ने अपने शोषण के हथियार इतने धारधार कर लिए कि जब चाहे, तब उससे अपना उल्लू सीधा कर सकते हैं, फिर भी मनुष्य एक बौद्धिक प्राणी है, उसने ऊबकर एक नयी संस्कृति विकसित की, जो ख़ासकर मजदूरों एवं निम्न वर्गों की जातियों का था। आज जो जोखिम उठाया है, उसका कहीं नामोनिशान नहीं है। जोखिम उठाने वाला पीछे छूट जाता है और बुर्जुआ वर्ग आकर नाम कमाने लगता है। वास्तव में जोखिम तो वह उठाता है जो नदी की वर्तमान धारा के प्रतिकूल, धारा के हुक्म को अस्वीकारते हुए कह रहा है-''मूल्य भी क्या तोड़ने की चीज़ है, जो तोड़ेंगे? वह बदला जा सकता है, तोड़ा नहीं जा सकता। मूल्य स्थिर या सनातन नहीं होता, यह भी मान लेता हूँ परंतु एक अविच्छिन्न मूल्य-प्रवाह एक सनातन मूल्य परंपरा का अस्तित्व तो मानना ही होगा।''[3]

कुबेरनाथ राय द्वारा लिखित बोध-कथाएं अत्यंत ही विचारणीय हैं, जिनमें प्राचीन कथाओं को नूतन-युगबोध के परिवेश में देखकर उनमें नयी उद्‌भावना, नयी कल्पनाएं, नयी चेतना शक्ति का समावेश किया गया है। लेखक ने अमृत मंथन के प्राचीन कथा के माध्यम से नव रसों की उत्पत्ति की है। 'महाभारत' के यक्ष प्रश्न के माध्यम से आधुनिक व्यवस्था पर व्यंग्य भी किया है। ऐसे ही 'अहिल्या-उद्धार' की कथा में संशोधन करके 'अहिल्या' का उद्धार 'राम' से न कराकर, 'कृष्ण' से कराया है, जो लेखक की अपनी मौलिक उद्‌भावना है।

3. व्यंग्यात्मक शैली

कुबेरनाथ राय अपनी रचनाओं को प्रखर एवं सशक्त बनाने के लिए इस शैली का प्रयोग करते हैं। इस शैली की सर्जना कथ्य को प्रभावी बनाने के लिए की जाती है। इस शैली की भाषा हृदय में शल्य की तरह-चुभने वाली होती है, इस शैली का अत्याधिक परिष्कार हो जाता है और वह प्रौढ़ता तथा प्रांजल का रूप धारण करती है। यह शैली लेखक के कथ्य को अत्यधिक रोचक तथा आकर्षक बनाती है। जैसे-''मुझे पता था, कि इनमें (प्रोफेसरों में) से पंचानबे प्रतिशत ऐसे ही हैं कि इनकी सारी बादशाहत विद्यार्थी जीवन में लिखे गये नोटों पर आश्रित है और ये अंग्रेज़ी माध्यम का इसलिए समर्थन करते हैं, कि मातृ-भाषा माध्यम प्रतिष्ठित होने पर एक तो उन पुराने नोटों को फिर से लिखना पड़ेगा और दूसरे यह कि लड़के कक्षा में प्रश्न करने में समर्थ हो जायेंगे एवं यह एक नयी झंझट सिर पर आ पड़ेगी।''[4] मुझे लगता है कि मस्जिद खुदा से की गयी प्रार्थना का प्रतीक है और मंदिर घहरती ध्वनि-घंटा में व्यक्त उस सर्वव्यापी के आशीर्वाद का। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। मेरे सामने कायर, पद लोलुप, राजनीतिज्ञों के चेहरे घूम जाते हैं। ''मैं सोचता हूँ कि आख़िर क्यों प्रार्थना एवं आशीर्वाद एक-दूसरे के दुश्मन बन जाते हैं।'' ''यक्ष यदि द्विवेदी कालीन सुधारवादी बुद्धिवाला होता तो कर्तव्य का बार-बार स्मरण दिलाकर एक शार्ट-कट रास्ता बना देता और मेघ वहीं से इंसानोन्मुख होकर मध्य प्रदेश को फांदता, मिर्जापुर, वाराणसी, बलिया, छपरा होता हुआ उसी रास्ते से जिससे सेठ जी का नेपाल के साथ तस्कर व्यापार होता है, काठमाण्डू को लांघता, मानसरोवर अलका पहुँच जाता।''[5]

4. आत्मभिव्यंजक शैली

आत्माभिव्यंजक शैली में निबंधकार पाठकों से संवाद करता नज़र आता है, इसीलिए इस तरह के निबंध को ललित-निबंध कहते हैं। ऐसे निबंधों में कहानी की सी रोचकता एवं सरसता होती है। कुबेरनाथ राय अपने निबंधों में पाठकों से बातचीत करते दृष्टिगत होते हैं तथा कहीं-कहीं विषय को सरल बनाने के लिए संवाद की भी सृष्टि कर लेते हैं। जैसे-'मन-पवन की नौका' निबंध में प्रस्तुत है-

'क्या टटोल रहे हो?'

'क्षीर-सागर।'.....

'चिरंजीव। सौ वर्ष जीते रहों।''

इस प्रकार कुबेरनाथ राय ने भावात्मक, विचारात्मक, व्यंग्यात्मक तथा आत्माभिव्यंजक शैलियों को अपनाकर कथन में चारूता उत्पन्न की है। आप ने जो व्यंग्यात्मक शैली अपनायी है, वह अधिकांशतः सामाजिक तथा राजनीतिक दशाओं से प्रेरित रही है। इस तरह आपने वैयक्तिकता, निजता तथा आत्मीयता के साथ-साथ हृदय की सहृदयता तथा सजीवता का प्रयोग करके विषय को उत्कृष्ट बनाया है।

संदर्भ-

1. कुबेरनाथ राय, प्रिया नीलकंठी, पृ. 3
2. कुबेरनाथ राय, रस-अखरोट, पृ. 216
3. कुबरेनाथ राय, विषाद योग, पृ. 18
4. रस-अखरोट, पृ. 38
5. कुबेरनाथ राय, गंध मादन, पृ. 43

शोध छात्र (हिंदी विभाग) जवाहर लाल नेहरू स्मारक पी. जी. कॉलेज, महराजगंज

विवेकीराय के काव्य में यथार्थ के स्वर

डॉ. दीपक कुमार

कवि अपने राष्ट्र और संस्कृति की उपज होता है। वह जब भी काव्य रचना करता है उसकी वाणी में युगीन यथार्थ अवश्य प्रकट होता है। आदिकालीन साहित्य से लेकर आधुनिक साहित्य तक इसी यथार्थ को कवियों ने किसी न किसी रूप में प्रकट किया है। कवि विवेकीराय भी इस सत्य को उद्घाटित करने में पीछे नहीं रहे और उन्होंने अपने काव्य के माध्यम से ऐसा दिखाया भी है। स्वतन्त्रता प्राप्ति का स्वप्न जब साकार हो गया तब यह अपेक्षा थी कि देश के नेतागण देश के नवनिर्माण और जनसामान्य के उत्थान एवं उद्धार के लिए अपना तन-मन लगा देंगे परन्तु देश की बागडोर हाथ में आते ही तथाकथित नेता स्वार्थ में लिप्त होकर विलासी जीवन का उपभोग कर रहे हैं और गरीब जनता का शोषण जारी है। इसी कारण समाज का यह क्रान्ति चेता कवि सामाजिक वैषम्य को मिटाकर देश की उन्नति पथ की ओर अग्रसर हो गया है। 'अर्गला' काव्य में कवि यही सब कुछ प्रकट करता है-

''स्वार्थी नेता सचमुच नीरस
मानव क्षुद्र महान बनाओ
धरती को मत छोड़ अभागे
रसमय अपने प्राण-बनाओ।''[1]

डॉ. राय ने समाज में व्याप्त अन्धविश्वासों एवं रूढ़ियों के बंधनों को अस्वीकारा है। भारत धर्म प्रधान देश है। अतः सामाजिक उन्नति के लिए धार्मिक उद्धार आवश्यक था। डॉ. कर्ण सिंह राजनैतिक जागरण के लिए धार्मिक उन्नयन आवश्यक मानते थे- ''हिन्दू धर्म रूपी विशाल उदधि का मंथन किये बिना राजनैतिक जागरण का अमृत पाने की आशा केवल मृग तृष्णा सिद्ध होगी। भारतीय जीवन के सभी महान आन्दोलनों का उदय नयी आध्यात्मिक विचारधारा और प्रायः धार्मिक कर्मकाण्ड में हुआ।''[2] 'यह जो है गायत्री' काव्य में कवि स्पष्ट करता है कि आज देश के हर नागरिक में समाज सुधार की प्रेरणा जागृत करनी होगी -''लानी होगी किरण कहीं/ से भी प्रकाश वाली/उठ रही मानस में/वेगवती इच्छा है।''[3]

कवि आधुनिकता की लहर में जकड़े मनुष्यों को उनके सुनहरे अतीत से परिचित कराता है। आज हम बुद्ध एवं ईसा का सन्देश भूलकर केवल अपने तक ही सिमट कर रह गये हैं। रामराज्य की कल्पना करने वाले हम क्या उसी गाँधी युग के प्राणी हैं जहाँ मनुष्य का ईमान सरे आम बिक रहा है, गरीबों का भरपूर शोषण हो रहा है-''झूठ, झूठ सब झूठ कि हम को/याद बुद्ध ईसा की वाणी/धोखा सचमुच धोखा, कैसे/हैं हम गांधी युग के प्राणी।''[4]

कवि ने देश के लिए अपना बलिदान देने वाले नेताओं को भी याद किया हैं जिनके प्रतिफल स्वरूप हम आज स्वतन्त्रता का उपभोग कर रहे हैं। महात्मा गाँधी का नाम उनमें अग्रगण्य है। कवि ने उनके बलिदान एवं सराहनीय कार्यों की याद दिलाकर भारतीय जनमानस को सचेत किया है। भारतीयों को बापू का स्मरण दिलाता हुआ कवि कहता है-'अमृत देकर हमको गांधी ने सारे विष का पान किया/आज़ादी लेकर अपने को आज़ादी पर बलिदान किया।'[5]

मनुष्य ने मनुष्य का शोषण प्राचीन काल से ही किया है। स्वतन्त्रता पूर्व अंग्रेजों ने भारतीयों का शोषण किया और स्वतन्त्रता पश्चात् जमींदारों तथा पूंजीपतियों ने। आज़ादी के बाद जिस राजनीतिक व्यवस्था का स्वरूप लोगों ने देखा था वह टूट गया और इसके दर्द ने जनमानस को दुखी और परेशान किया। शोषण करते-करते इन लोगों ने सभी नैतिक मूल्यों को दाव पर लगा दिया है-''आर्थिक शोषण से ही तो नहीं तुष्ट ये सेवा के व्यापारी,/नैतिकता पर भी भांज रहे हैं ये चमचम सोने की आरी।/जीवन के मूल्यों की पाई-पाई के ये मनमाने अधिकारी,/और नियंत्रित होती जाती इनके हाथों आज़ादी प्यारी।''[6]

विवेकीराय के काव्य में क्रांति की चिंगारी के साथ-साथ नवनिर्माण की शांतिदायिनी प्रेरणा भी मिलती है। इनका सम्पूर्ण काव्य वह दर्पण है जिसमें युग की राजनैतिक परतन्त्रता और उससे उद्भुत देश की दयनीय स्थिति, मजदूर तथा किसानों की दुरावस्था का स्पष्ट चित्रांकन है। 'लौटकर देखना' काव्य में कवि अमीर और गरीब के भेदभाव को स्पष्ट करते हुए कहता

है कि आज देश का एक वर्ग तो सुविधा सम्पन्न है जबकि दूसरे वर्ग के पास न तो पहनने के लिए कपड़े है और न खाने के लिए रोटी। ऐसा ही वर्णन कवि ने किया है-''घूर-घूर चश्मे के भीतर से/हो किसे देखते?/सुन्दरता?/उस युवती की?/जो एक बसन में फटे हाल?/भाती तुमको/बड़ी बात ।/तनके मन के/जीवन धानलज्जा के/तुम डाकू/तुम ऊनी कपड़ों में लिपटे/खुशहाल/चमकते चोर धन्य।''[7]

स्वतन्त्रता आन्दोलन के समय पूरा देश एकजुट होकर अंग्रेजों के विरुद्ध लड़ा था। समाज अपने परम्परागत सांस्कृतिक मूल्यों का आधार लेकर खड़ा था किन्तु स्वतन्त्रता पश्चात् उन सभी नैतिक मूल्यों का घोर अवमूल्यन हो गया। न्याय, अहिंसा, प्रेम, मानवता आदि परम्परागत आदर्शों की जगह अब साम्प्रदायिकता, अन्याय, हिंसा और अमानवीयता ने ले ली है। आज सच्चाई और ईमानदारी का गला घोंटने की विवशता हमारे नेताओं के समक्ष आ खड़ी हुई है क्योंकि इसके बिना राजनीति नहीं चल सकती-'कहीं सच्चाई की राहे हैं/और कहाँ हम? कितनी दूरी/आदर्शों का गला घोंटने/की कैसी भीषण मजबूरी।'[8]

राष्ट्रभाषा राष्ट्र को एकता के सूत्र में बांधने का कार्य करती है विशेषकर वहाँ जहाँ विभिन्न भाषा-भाषी लोग रहते हैं। राष्ट्रभाषा कवि के विचारों को सीधी अभिव्यक्ति प्रदान करती हैं। स्वतन्त्रता आन्दोलन के समय अनेक कवियों ने राष्ट्रभाषा हिन्दी के द्वारा ही जन-जागरण का काम किया। 'लौटकर देखना' काव्य में कवि राष्ट्रभाषा हिन्दी की प्रशंसा करते हुए उसे गंगा की धारा के समान उदार भारत माता के माथे की बिन्दी मानता है-'गंगा की धारा सी उदार/बोली बोली हमजोली है/वह हिन्द हृदय की बोली है/भारत ललाट की वह बिन्दी /साक्षात् गिरा-सी वह हिन्दी/जिसकी पद रज गरिमा अपार।'[9]

आज का युग संघर्षों का युग है। हर व्यक्ति अपने स्वार्थों की पूर्ति हेतु मनमाने ढंग से दूसरे का शोषण कर रहा है। आज के व्यक्ति पर यन्त्रीकरण, राजनीतिकरण और आधुनिकीकरण का व्यापक प्रभाव पड़ा है। 'यह जो है गायत्री' काव्य में कवि ऐसे आदर्श समाज की कल्पना करता है जिसमें सदा उत्कर्ष और प्रकाश का प्रादुभार्व हो, जहां संशय और पतन के लिए कोई स्थान न हो।

विवेकीराय का सम्पूर्ण साहित्य उनके स्वदेश प्रेम से भरा पड़ा है। उन्होंने स्वयं भी स्वतन्त्रता संग्राम में योगदान दिया और देश के वीरों को उत्साहित करने के लिए अनेक प्रेरक गीत भी लिखे। श्रीधर पाठक देशप्रेम को आवश्यक बतलाते हैं, जिसमें मातृभूमि के प्रति प्रेम व अभिमान न हो वे निन्दनीय हैं, अज्ञानी हैं।''[10] कवि को अपने देश का प्राचीन आदर्श रूप आज भी भूला नहीं है-'तेरा वह सुन्दर राज न भूले हम हैं/आदर्श तुम्हारा आज न भूले हम है/उस गति को ही तो नवयुग की वीणा पर/हो मस्त सजाते आज विजय का दिन हैं।''[11]

राजनीतिक भ्रष्टाचार का पर्दाफाश करना कवि अपना परम धर्म मानता है क्योंकि उन्होंने राजनीति से सीधा साक्षात्कार किया है। उन्होंने तत्कालीन राजनीतिक उठा-पटक, राजनीतिज्ञों के चारित्रिक पतन, सत्ता के लिए किए जाने वाले झूठे वायदे, दलबदल, भूखमरी, मंहगाई आदि के यथार्थ चित्र अंकित किए हैं। समाजवाद लाने का जो सुनहरा वादा सतारूढ़ राजनीतिज्ञों ने किया उसे भी कवि जान चुका है। कवि ने इसी कारण राजनीतिज्ञों को षड्यन्त्रकारी, चालाक आदि कहा है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि विवेकीराय हिन्दी के यथार्थवादी कवियों में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इन्होंने काव्य चाहे कम ही लिखा किन्तु जितना भी लिखा वह यथार्थ, ओज और राष्ट्रीयता का बिगुल बजाता है और उसके नाद से कोई भी प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता।

संदर्भ-

1. विवेकीराय, अर्गला पृ. 48
2. डॉ. कर्ण सिंह, राष्ट्रीयता का अग्रदूत, पृ. 16
3. विवेकीराय, यह जो है गायत्री, प. 32
4. विवेकीराय, रजनीगंधा, पृ. 40
5. अर्गला, पृ. 69
6. विवेकीराय, लौटकर देखना, पृ. 21
7. वही, पृ. 16
8. रजनीगंधा, पृ. 40
9. लौटकर देखना, पृ. 111
10. उद्धृत डॉ. बी. सत्यनारायण, द्विवेदीयुगीन काव्य में राष्ट्रीय चेतना, पृ. 49
11. रजनीगंधा, पृ. 44

प्राध्यापक हिन्दी, रा.व.मा.वि., देवीदासपुरा कुरुक्षेत्र

समकालील हिन्दी कथा साहित्य में साम्प्रदायिक मनोवृत्ति

डॉ. हरिनाथ

आज साहित्य, समाज, संस्कृति, अर्थ और राजनीति के बीच तरह-तरह के संबंध पैदा हो रहे हैं और उनमें आपसी द्वंद्व भी बढ़ रहे हैं। आज वैश्विकवाद, साम्प्रदायवाद, अलगाववाद, आतंकवाद, एकाकीपन विस्थापन आदि कई तरह की समस्या साहित्य की विषय-वस्तु हो सकती है। लेकिन यह सत्य है कि सभी तरह की समस्याओं को जानने समझने और उनका निदान ढूँढ़ने के लिए मात्र साहित्य पर ही निर्भर नहीं हो सकते। आज पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनैतिक शब्दों की तर्ज पर साम्प्रदायिक या धार्मिक होना अच्छी बात नहीं है? हिंदुस्तान में जातिवादी होना भी सम्प्रदायवादी होने जैसा ही हो गया है। समाजवादी और धर्मवादी होना जब बुरा नहीं हो सकता है तो जातिवादी या सम्प्रदायवादी होना बुरा क्यों कर हो सकता है? यदि हम समाज के इतिहास पर दृष्टि डालें तो पता चलेगा कि जाति, सम्प्रदाय और धर्म का प्रयोग व्यापक स्तर पर मानव हित में होने और किए जाने के लिए हमारे यहाँ सदियों से संघर्ष होते रहे हैं।

प्राचीन और पौराणिक आख्यानों के आधार पर देखा जाए तो संबंधों तथा रिश्तों के कारण समूहबद्ध होकर धर्म की खातिर महाभारत करने का ही नहीं अपितु पूरी दुनिया में ही परिवार, समूह, जाति, देश, सम्प्रदाय, क्षेत्र, भाषा और धर्म के खातिर सहयोग और संघर्ष करने के उदाहरण इतिहास में प्राप्त होते रहे हैं। समाज वैज्ञानिकों का तो मानना है कि समाज के विकास में सहयोग और संघर्ष का होना अवश्यभावी घटना है। फिर भी समाज विकास के युग में साम्प्रदायिकता एक भयंकर और हानिप्रद समस्या के रूप में नहीं उभरी थी। हाँ 'ईसा पूर्व छठी शताब्दी में अनेक अराजक सम्प्रदाय अस्तित्व में आ चुके थे।''[1] भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों का पाया जाना कोई आधुनिक घटना नहीं है बल्कि प्राचीनकाल से ही इसका अस्तित्व प्राप्त होता है। यह सच है कि प्राचीन काल में साम्प्रदायिक होना उतनी बुरी बात नहीं समझी जाती थी। यह व्यक्ति या समूह विशेष पर निर्भर था, चाहे उसके किसी सम्प्रदाय से संबंध रहे हों या न हों। अपने साम्प्रदायिक रीति-रिवाजों को निभाने के कारण उनकी गतिविधियों को साम्प्रदायिकता नहीं कहा जाता था। यह तो आधुनिक काल की घटना है जिसके मार्फ़त अपने सम्प्रदाय को श्रेष्ठ और अन्य सम्प्रदाय को हीनतर मानकर साम्प्रदायिक दुर्भावना जोरदार ढंग से फैलायी जा रही है, इसलिए साम्प्रदायिक होना या साम्प्रदायिकता आज एक अमानवीय कार्य व्यापार हो गया है। आज हमें ज़रूर सोचना चाहिए कि विभिन्न जाति, सम्प्रदाय, धर्म और क्षेत्र का होकर मानवीय विकास के प्रयास में सहयोग कर रहे हैं या नहीं। आज हम पाते हैं कि इस विविधता भरे समाज में प्रेम, शांति, सहयोग, सौहार्द्र, भाईचारा, न्याय, सद्भाव, सत्संगति और सत्कार्य के लिए भी हमेशा लोग एकमत होते मिल जाएगें। इसी तरह समाज में घृणा, अशांति, विरोध भेदभाव, स्वार्थ अन्याय, अलगाव, बदनियति और बुरे कार्यों के लिए भी लोग एकमत होकर कार्य करते ही रहते हैं। अगर ऐसा नहीं होता तो दुनिया में सभी तरह के मानवीय कार्यों के लिए सहयोग और संघर्ष करने का समाज में उदाहरण ही नहीं मिलता।

आज शहरीकरण, औद्योगीकरण, राष्ट्रीयकरण और अंतर्राष्ट्रीयकरण के बाद यह वैश्वीकरण की घटना अपने उफान की ओर है। इसमें स्वाभाविक है कि संकीर्णतावादी विचारधाराओं का प्रस्फुटन भी दुनिया के किसी भी जाति, सम्प्रदाय और क्षेत्र की ओर से किसी न किसी रूप में अवश्य दिखाई दे जाय। भारत में साम्प्रदायिकता की घटना को भी इसी परिप्रेक्ष्य में देखा जा सकता है। उसमें भी ख़ासकर उसके नकारात्मक रूप के उभरने की घटना तो आज़ादी के कुछ पहले और बाद से शुरू होकर अभी भी अपने रूप गुण, आकार-प्रकार और परिणामों को बनाने-बिगाड़ने में गतिशील है। यहाँ एक बात ध्यान देने की यह है कि ज़रूरी नहीं कि साहित्य में सभी मानवीय घटनाओं का समोवश सही तरह से हो ही गया हो। हिन्दी कथा साहित्य की शुरुआत से लेकर अब तक के सफ़र का अगर मूल्यांकन किया जाय तो हम पाते हैं कि हिन्दी कथाकारों ने समाज में साम्प्रदायिक प्रवृत्तियों को पहचानते हुए अनेक महत्त्वपूर्ण कथा साहित्य लिखा और समाज विभाजन के

बारीक कारणों और स्वरूप को रेखांकित किया।

भगवानसिंह ने अपने उपन्यास 'उन्माद' के माध्यम से साम्प्रदायिकता की परिभाषा देने से लेकर उसके फैलने की परिस्थितियों का विश्लेषण करने की कोशिश की है। वे कहते हैं-''यह जो साम्प्रदायिकता है, यह भी एक तरह का दिमागी बुखार है। ये जो साम्प्रदायिकता की राजनीति करने वाले हैं और ये जो धर्म के नाम पर अपनी दुकान चलाने वाले मुल्ले और पण्डित हैं ये सभी इस दिमागी बुखार के वायरस को फैलाने की धौंस देकर राजनीतिक सौदेबाजी करते हैं। इनके भीतर पले वायरस के वाहक हमारे पढ़े-अनपढ़े छुटभैये होते हैं जिनमें बुद्धिजीवी, पत्रकार और अध्यापक भी आते हैं। वे लोग जो अफवाहें फैलाते हैं, झूठी या अधकचरी खबरें उड़ाते है।''[2] इस प्रकार 'उन्माद' के माध्यम से लेखक ने साम्प्रदायिक संगठनों के इतिहास को अपने ढंग से प्रस्तुत किया है।

तसलीमा नसरीन 'लज्जा' उपन्यास में कहती है कि ''दंगा कोई बाढ़ नहीं कि पानी से उठाकर लाते ही खतरा टल गया, दंगा कोई आग का लगना नहीं है कि पानी डाल कर बुझा देने से ही छुटकारा मिल जाएगा। दंगे में आदमी अपनी आदमियत को भी स्थगित रखता है। दंगे में आदमी के मन का ज़हर बाहर निकल आता है। दंगा कोई प्राकृतिक घटना नहीं, दंगा मनुष्यत्व का विकार है।''[3] तसलीमा नसरीन की विशेषता है कि धर्मनिरपेक्षता बनाम साम्प्रदायिकता जैसे संवेदनशील एवं जटिल प्रश्न पर विचार करते हुए वे शब्द जाल नहीं फैलाती, न ही विश्लेषण के नाम पर इतिहास, धर्म, संस्कृति और सामाजिक संरचना की लम्बी-चौड़ी चीर-फाड़ कर मार्मिक प्रकरणों के बीच ठोस निष्कर्षो को हाथ से छट जाने देती है। चूँकि डॉक्टर होने के नाते वे जानती है कि बदन पर हुए घात का इलाज तब तक संभव नहीं जब तक उसे खोल कर दिखाया न जाय, इसलिए वे तत्काल धर्म का आखेट कर राजनैतिक छल-छद्मों को बुनते-गहराते राजनीतिज्ञों पर कटाक्ष करती चलती है और साथ ही पूछती है निरूत्तर कर देने वाले बेहद मासूम मस्जिद का पुनर्निर्माण करना होगा। अच्छा, वह क्या मंदिरों के पुनर्निर्माण की बात कहीं कर रही है?...... जब निर्माण की बात उठ रही है तो, तब सिर्फ मस्जिद का ही निर्माण क्यों होगा।''[4] जाहिर है कि सवाल की मासूमियत के पीछे राजनैतिक मंतव्यों की पोल खोलने की निर्भीकता और आम जनता के उनके प्रति सचेत करने की विकलता कम गंभीर नहीं है।

कुर्रतुलऐन हैदर ने 'आग का दरिया' उपन्यास में हिन्दुस्तानी साम्प्रदायिकता को सच तक पहुँचाने की कोशिश की है। वह कहती है कि ''ज़रूरी यह नहीं कि हम इतिहास की चारदीवारी के पीछे कैद हो जाएँ। ज़रूरी यह है कि हम उसके ऊपर तने मकड़ी के जाले झाड़-पोंछ कर साफ कर दें।''[5] अर्थात् साम्प्रदायिक सद्‌भाव रखने का प्रयास करते रहें।

प्रियंवद के 'वे वहाँ कैद हैं' में चिन्मय की यह पीड़ा कि ''अभी हम (हिन्दू) राष्ट्र है ही कहाँ? बनने की प्रक्रिया में भी नहीं।..... जाति अल्पसंख्यक के नाम पर कुछ नहीं होगा। हर आदमी राष्ट्र का नागरिक होगा। हमें किसी दूसरे धर्म से शिकायत नहीं, बस उनको अपनी जगह मालूम होनी चाहिए।' हम यहाँ सोच सकते हैं कि दुनिया में किसी भी धार्मिक राष्ट्र की परिकल्पना में अन्य धर्मों की सुरक्षा की गारंटी काल्पनिक सोच ही माना जा सकता है। जब प्रियंवद 'वे वहाँ कैद है' में यह कहते हैं कि ''संभव है एक बार पूरा देश अस्थिरता में डूब जाए, पर उसी से फिर जन्म लेगा एक दीर्घ, स्थिर और निश्चित रूप हिंदू राष्ट्र का जो इस देश की मुक्ति है।''[6] जाहिर है लोकतांत्रिक धर्म निरपेक्ष भारत में रहने वाले उपन्यास के चिन्मय को उपरोक्त कथन से मुक्ति नहीं मिल सकती, क्योंकि चिन्मय की आँख में जिस त्रिशूलधारी हिंदू योद्धा की मूर्ति है वह मूलतः आतंकवादी है और आतंकवाद कभी मुक्तिदाता हो ही नहीं सकता। इसमें कोई दोराय नहीं कि इस उपन्यास में ऐतिहासिक संदर्भ के साथ साम्प्रदायिकता के रेशे-रेशे को उधेड़ कर दिखाने की कोशिश की है।

उपन्यासों के साथ-साथ कहानियों में भी साम्प्रदायिकता की समस्या को उठाया गया है। मुकेश कौशिक की कहानी 'मौहम्मद सुहेल के गम और गुनाह' में भारत की आज़ादी के 60 साल बीत जाने के बावजूद भी आज मुस्लिम वर्ग को साम्प्रदायिक कौम के रूप में प्रदर्शित करने की मनोवृत्ति व्याप्त है। लेखक कहते है- ''मैं मौहम्मद सुहेल हूँ और जाहिर तौर पर मुसलमान ही हूँ लेकिन कोई साला परिवार नियोजन के लिए मेरी बढ़ाई नहीं करता। इस्लाम की सियासी परिभाषा के मुताबिक तोगड़ियाओं और मोदियों के आरोप के अनुसार मेरे निकाह की उम्र के हिसाब से मेरे दस बच्चे तो होने ही चाहिए थे। लेकिन उसूल और आरोपो को ताक पर रखकर मेरे घर में तो प्यारी सी बेटियाँ है। इसका भी कोई अफसोस नहीं...... मेरे से ज्यादा नादिया, फादिया और रुखसाना का मन करता है कि घर में जूनियर सुहेल होता तो कितना अच्छा होता.... हर हिन्दू और मुसलमान की तरह मुझे भी अपनी कौम को आगे बढ़ाने वाला चिराग चाहिए था।''[7]

नमिता सिंह की कहानी 'मूषक' मानवीय संवेदनाओं की कहानी है जिसमें साम्प्रदायिकता को ठेंगा दिखाया गया है। 'मूषक' कहानी में धार्मिक अलगाववाद की भावना तथा आतंकवाद को दर्शाया गया है- ''उनके देव स्थान पर एक दिन अचानक गाज गिरी। उनकी वापस लौटती बस को मुस्लिम आतंकवादियों

ने लूट लिया।''[8] इस कहानी में मानवता को बिल्कुल नकार दिया गया है। मानवता के नाम से घृणा होने लगती है तथा सारा देश आज साम्प्रदायिक दंगे, फसाद, घृणा, आपसी फूट, आतंकवाद के साए में जी रहा है। लेखिका आगे लिखती है, ''क्या धरा है हिन्दुस्तान में पूरा देश मानों रणभूमि बना हुआ है। एक कोने से लेकर दूसरे कोने तक ऊपर से लेकर नीचे तक झगड़े-फ़साद जगह-जगह आतंकवाद का राज दंगे-फ़साद कोई कानून व्यवस्था नहीं। आदमी की जान कोडियों के मोल है। कहीं कोई सुरक्षा नही...।''[9]

अब्दुल बिस्मिल्लाह की कहानी 'दंगाई' में शहर के दंगे की सूचना मिलती है। बसन्त के घर के पास गली के सामने ही मौलाना जमानुदीन खड़े हैं जो पूछते है- ''वहाँ खैरियत से तो रहे बेटा? सूना है दंगा-फसाद बहुत मचा है?..... तुम बचे रहना मौलाना अब यहाँ भी दंगा होगा। .... अरे बसन्तू होने दो दंगा। अब तो.... हम जोली सब चले गए। अच्छा है कि अपने बच्चों के हाथों हम भी जन्नत चले जाए।' बशीर की दुकान में बसन्तू दवाओं के कुछ पत्ते उठा लेता है, वहाँ बैठा छोटा लड़का कुछ भी नहीं बोलता। अन्त में बसन्तू खुल पड़ता है- दंगा, ननकू इसी घर से शुरू होगा।''[10] आज साम्प्रदायिकता हमारे समाज में छूत की बीमारी की तरह फैल गई है। जो भीतर ही भीतर खोखला किए जा रही है। अब्दुल बिस्मिल्लाह की 'अल्लाहरखा' और 'दरगाह की मूरतें' कहानियाँ हिन्दुओं और मुसलमानों के एकीकृत समाज को विघटित करने वाले स्वार्थी घटकों को बेनकाब करती है। ''जाने कहाँ से रैयतपुर में एक 'गुरुजी' तसरीफ़ ले आए और अदमपुर में एक मौलाना...... की यकबयक, हिन्दुत्व और इस्लाम दोनों खतरे में पड़ गए और दोनों अलग-अलग हुकम देने लगे। अल्लाहरखा को पहली बार इल्हाम हुआ कि ये खुदा और भगवान एक नहीं दो हैं।..... टीले पर रासलीला इस साल नहीं हुई मगर टीले से मज़ार के मेले में ऐनवक्त जाने-अनजाने कहाँ से एक मूरत निकल आई। रैयतपुर वालों ने कहा कि मूरत इस बात की गवाह है कि यहाँ पहले से थी और दरगाह बाद की चीज़ है, सो मज़ार अब यहाँ के बजाय कहीं और लगे। अदमपुर वालों ने कहा कि 'मूरत-बुरत बाद में निकली है, ... बाद से ही यहाँ थी।' 'बस ठन गई रैयतपुर और अदमपुर वालों में, ठन गई हिन्दू और मुसलमानों में।''[11]

आनन्द बहादुर की 'खस्सी' कहानी साम्प्रदायिक दंगों के दौरान आम आदमी की हैवानियत को प्रदर्शित करती है। जिसके तहत एक मासूम, 'सूरज' से 'सूरजकली बन जाता है- ''शहर में दंगा भड़का हुआ था, भयंकर लड़ाई-चल रही थी। हिन्दुओं के युद्धों में मुसलमान लाशों का अम्बार और मुसलमानों की टोली में हिन्दू लाशों का जमघट.....चारों ओर अलग-अलग किस्म की लाशें। लाशों की लाशों.....तथा कुछ लोगों को जल्दी-जल्दी काटकर खेतों में छिपा दिया गया था।''[12] इस कहानी में हिन्दू-मुस्लिम दोनों का आपस में दंगा-फसाद सामाजिक उपद्रव हो जाता है तथा दोनों अपने ध्र्म को ऊँचा समझने की कोशिश करते हैं, इसी मनोवृत्ति के करण साम्प्रदायिकता की भावना पैदा होती है। जिसका हालिया उदाहरण उत्तर प्रदेश के मुजफ्फरनगर में हुए दंगों में देखा जा सकता है।

स्वयं प्रकाश की कहानी 'आदमी जात का आदमी' समस्त दंगों के कारणों को नेस्तनाबूद करती है। यह कहानी सिद्ध करती है कि आदमी जात को परिधि में बाँटकर नहीं परखा जा सकता है। वही मनुष्य है जो मुसीबत में दूसरों के काम आए और जिसमें इंसानियत कूट-कूट कर भरी हो-'उसके जी में आया, इस मासूम आदमी को गले लगा ले, जिसे शायर और कव्वाल का अन्तर चाहे न मालूम हो, ... एक मुश्किल में पड़े आदमी की मुसीबत का एहसास ज़रूर हो जाता है। कितना कठिन है और कितना वाहियात..... ऐसे आदमी को हिन्दू या मुसलमान समझना और कहना।''[13]

अतः कहा जा सकता है कि साम्प्रदायिकता फैलाने वाले बुद्धिजीवियों की इस चाल को जब आम जनता जान पहचान लेगी तो यह साम्प्रदायिकता और सम्प्रदायवादी शब्द शायद नकारात्मक रूप रंग, अर्थ, संदर्भ कारण और परिणाम वाला न होकर मानव हितकारी वाला हो सकता है।

संदर्भ-

1. प्राचीन भारत क इतिहास, द्विजेन्द्रनाथ झा एवं कृष्णमोहन श्रीमाली, पृ. 142
2. भगवान सिंह, उन्माद, पृ. 144
3. तसलीमा नसरीन, लज्जा, पृ. 135
4. वही, पृ. 76
5. कुर्रतुलऐन हैदर, आग का दरिया (भूमिका से)
6. प्रियंवद, वे वहाँ कैद है, पृ. 121
7. मुकेश कौशिक, मोहम्मद सुहेल के गम और गुनाह, कथादेश, नवम्बर, 2005, पृ. 52-53
8. नमिता सिंह, मूषक, पृ. 106
9. वही
10. अब्दुल बिस्मिलाह, दंगाई, गिरिराज, शराग, पृ. 27
11. अब्दुल बिस्मिलाह, अल्लाहरखा, दरगाह की मूरतें, पृ. 33-35
12. आनन्द बहादुर, खस्सी, हंस, जनवरी 1993, पृ. 57
13. स्वयं प्रकाश, आदमी जात का आदमी, पृ. 113

सहायक प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, बाबा बलराज, पंजाब विश्वविद्यालय अंगीभूत महाविद्यालय, बलाचौर

क़हर, कसक और कश्मीर

डॉ. ज़ाहिदा जबीन

कश्मीर वातावरण पर लिखा उपन्यास 'एक कोई था कोई नहीं सा' (2009) को लेखिका ने अपने पिता को समर्पित करते हुए लिखा है, 'अपने डैडी स्वर्गीय डी. पी. भान के नाम जिनकी उंगली पकड़कर कश्मीर की यात्रा-अंतर्यात्रा की है।' उपन्यास कश्मीर की सभ्यता, संस्कृति वहाँ के पण्डित समुदाय के विस्थापन की समस्या पर आधारित है। 231 पृष्ठों पर लिखे इस उपन्यास के अंतर्गत तीन उपशीर्षक मिलते हैं-'सोशल रिफार्म ज़िंदाबाद', 'बर्फ का घर' और 'चौथा चिनार'।

'सोशल रिफार्म ज़िंदाबाद' में कश्मीर की खुशहाली में वहाँ के युवा वर्ग का अपने समाज की कुरीतियों को दूर करने, महिला जगत को अधिकार दिलाने की ललक में संघर्ष करते दिखाया है। 'बर्फ का घर' में बिगड़ती राजनीति, भाईचारे को शत्रुता में बदलते और शबरी (जिसने पण्डितों के पलायन के बाद भी अपने कश्मीर में अपने ही घर पर रहने का प्रण किया था) को न चाहते हुए भी कश्मीर से विदा लेकर दिल्ली जाते दिखाया गया है। 'चौथा चिनार' में कश्मीर और वहाँ के लोगों को याद करती शबरी छटपटाती रहती है और अंत में वहाँ के मुसलमान मित्रों के शोक में ही प्राण त्याग देती है। कश्मीर में एक पर्यटन स्थल 'चार चिनार' के आधार पर यह शीर्षक रखा गया है। जो डल झील के बीचोंबीच एक द्वीप है। पृथ्वी के इस टुकड़े पर चार कोनों पर चार बड़े चिनार के वृक्ष लगे थे। यही चार चिनार इस नाम के पीछे है। जया जब कश्मीर आती है तो देखती है कि एक चिनार लापता है। शायद बिजली गिरने के कारण जल कर राख हो गया है। जया को लगता है कि यह चौथा चिनार कश्मीर पंडित हैं, जो विस्थापन के कारण अब यहाँ नहीं है। 'न जाने कितने लोग यहाँ से विस्थापित होकर अपनी जमीन से उखड़ कर भी चिनार बने हुए हैं। न जाने कहाँ-कहाँ होगा यह चौथा चिनार...'[1]

'बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक तक खुली इस रस्सी को मीरा कांत ने शबरी नामक एक संघर्षशील किशोरी विधवा, उसके प्रगतिशील भाई अम्बरनाथ के जीवन-संघर्ष और क्रांतिकारी समाज सुधारक कश्यप बंधु की सामाजिक चेतना की लौ के सहारे बटते हुए दोबारा इक्कीसवीं शताब्दी तक गूंथा है।'(फ्लैप से)

उपन्यास में शबरी नामक पात्र के माध्यम से कश्मीर में जागती नारी चेतना को प्रतिबिम्बित किया गया है। विधवा शबरी के जीवन का एकमात्र उद्देश्य था अपने कश्मीर की बच्चियों को शिक्षित करना। वह 'बच्चियों को उर्दू पढ़ाने लगी। धीरे-धीरे उन्हें सिलाई का काम सिखाना भी शुरू किया।'[2]

पारंपरिक वस्त्रों को त्याग कर साड़ी पहन कर वह खुले मन से घर से समाज सेवा के लिए निकलती है।

नारी कल्याण तब तक संभव नहीं, जब तक पुरुष सहयोग न दे, क्योंकि पुरुष ही नारी का संगी, पिता, पति, पुत्र है। शबरी का भाई अम्बरनाथ भी 'सोशल रिफार्म' संस्था में सम्मिलित होकर समाज सेवा और महिला जीवन सुधारने में, सामाजिक कुरीतियों को दूर करने में संघर्षरत हो जाता है। 'जब से बंधु जी ने लड़कियों की शिक्षा, विधवाओं के पुनर्विवाह, दहेज-निषेध, उत्सवों में कम से कम खर्च की मुहिम चलाई थी ...'[3]

नारी जीवन से संबंधित कई समस्याओं पर लेखिका ने प्रकाश डाला है, जैसे बेमेल विवाह, ससुराल में उपेक्षित जीवन, पर्दा प्रथा, अशिक्षा, बलात्कार आदि।

चौदह वर्ष की 'शबरी के विवाह की बात कई जगह पर चलाई पर गाशा जी और भाभी को अट्ठावन साल के समसार चंद ही खानदानी और इज्ज़तदार महसूस हुए। सरकारी ओहदे से सेवानिवृत्त हुए समसार चंद का बहुत बड़ा दुमंज़िला मकान था, गाँवों में सेबों के बाग थे। समसार चंद की यह तीसरी शादी थी।....'[4]

दादा-नाना बने समसार चंद के साथ शबरी का विवाह केवल इसलिए किया गया कि शबरी खाते-पीते घर जाएगी, ऐश्वर्य से जिएगी। शबरी के भाई अम्बरनाथ ने जी-जान से अपने रिफार्मी मित्रों से मिल कर यह विवाह रोकने का प्रयत्न किया था किंतु असफल रहा। 'विवाह के लिए शुभ दिन होने की वजह से श्रीनगर में कई विवाह थे और उनमें से चार विवाह

ऐसे ही बेमेल विवाह थे जहाँ बच्चियों को प्रौढ़ों वृद्धों से ब्याहा जा रहा था।'[5]

शबरी दिन-भर ससुराल में काम करती और शाम होते ही कमरे में जाने से घबराती, पति के हाथों से उसे अपने मृत पिता के हाथों की याद आती थी। 'शबरी अपने 'फेरन' (लंबा चोगा) में सिमट कर और सूक्ष्म-सी हो गई थी। ऐसे हाथों को तो उसने केवल पिता को खोस या लोटा पकड़ाते ही देखा था। ....'[6] अनमेल विवाह का एक और उदाहरण मुगलानी का विवाह है। 'बारह साल की थी तो शादी हो गई। सर्वानंद (पति) थे कोई बाईस-तेईस साल के...'[7]

ससुराल में उपेक्षित-सा जीवन जीने के लिए बाध्य महिलाएं चाह कर भी कुछ नहीं कर पाती हैं। घर का काम बिना कोई प्रश्न किए करते जाना, बड़ों के सामने मुँह न खोलना, एक मशीनी जीवन जीना 'शायद हर वधू को ससुराल में झेलना होता ही होगा, बस यही सोच शबरी समसार चंद जू के घर में दिन-दिन काट रही थी। सारा दिन काठ ढोने वाले मज़दूर की तरह झुकी-झुकी घर के छोटे-बड़े कामों में पिली रहती थी। जो मिलता खा लेती।...माँ कहती थी मेरी बेटी राजरानी-राजरानी-सी बहू?'[8]

शबरी की सास आए दिन बहू के मायके से किसी न किसी बहाने कुछ न कुछ मंगाती थी और आई हुई सामग्री में से आधा छिपा कर परिजनों को आधा ही दिखा कर शबरी को लज्जित करती और उलटे-सीधे आरोप लगा कर, व्यंग्य-उलाहने देकर बहू के नीरस जीवन को और कठिन बना कर अपना सास धर्म निभाती थी।

पर्दा प्रथा नारी जीवन की एक और दुविधा है कश्मीर में आतंक का दौर फैला और साथ ही धार्मिक कट्टरपन का भी प्रचार हुआ। 'बच्चियों को मुँह ढंकने और पर्दा करने के लिए मजबूर किया जा रहा है...बंद कमरों में रहने और पर्दों में बाहर जाने पर भी वह अपनी आन को बचाने में असमर्थ होती हैं। 'कथा दुनिया में आतंक फैलाने के लिए बलात्कार भी एक हथियार नहीं बन गया है अब?...क्या सूडान में पूरे डाफुर शहर को एक 'रेप कैंप' में नहीं बदल दिया गया था?....अब ह्यूमन राइट्स वालों की रिर्पोट साफ-साफ बताती है कि वहाँ की लड़कियों-स्त्रियों पर सेना के जवान भी शारीरिक क़हर बरसा रहे हैं।'[9]

बेमन से कश्मीर वादी से पलायन करने पर भी शबरी का मन वादी की गलियों में ही भटकता रहता था। उसे एक दिन जब यह ज्ञात होता है कि वादी में उसकी प्रिय सखी शीरीं की नवासी निकहत का बलात्कार हुआ है, तो वह यह समाचार पाते ही बीमार हो जाती है, रो-रो कर मातम मनाती है और यही शोक शबरी की मृत्यु का कारण बनता है।

जिस समाज में नारी का सम्मान नहीं होता, वहाँ फरिश्ते नहीं झांकते-ऐसा सदियों से माना जाता है। लेकिन नारी को आज तक वह मान-सम्मान नहीं मिला जिसकी वह अधिकारिणी है। ऐसे में दुविधाओं का बोझ असहनीय होने पर वह मन ही मन यही सोचती है-

'क्यों न काटा गला मेरा
काटी थी जब नाल,
सहने न पड़ते इतने दुख
और इतने जंजाल'[10]

जेहाद के नाम पर कबाइलियों के कश्मीर में आगमन ने कश्मीर पर एक कहर बरसाया था। 'सीमा पार से आए क़बाइलियों ने मोहारा बिजलीघर को तहस-नहस कर दिया था, जिससे कश्मीर की बिजली गुल हो गई थी।....कबालियों ने कश्मीर की सीमा में मुजफ्फराबाद से प्रवेश किया।....हज़ारों लोगों को मौत के घाट उतारा, घरों में आग लगाई, बेहिसाब स्त्रियों के साथ बलात्कार हुए।...'[11] धर्म के ठेकेदार बने वह अपने भीतर छिपे शैतान को दबा न सके और कश्मीर में आते ही लूट मार करने लगे। '...धर्म जाति भूल कर क्यों औरतों पर क़हर बरसाते रहे...क्यों? इन हालात में कहीं कश्मीरी मर्दों ने खुद अपने घर की औरतों को इस अपमान से बचाने के लिए मौत के घाट उतार दिया तो न जाने कितनी कश्मीरी स्त्रियों ने घर से भाग कर नदी में कूद कर जान दे दी।'[12]

बेरोजगारी, गरीबी और बदहाली का उल्लेख भी उपन्यास में मिलता है। '...90 फीसदी नौजवानों के पास न सही तालीम है न रोजगार।...बात यह है कि रोटियां कम पड़ गई हैं, इसलिए आपा-धापी मची हुई है। इधर पेट खाली तो उधर कांगड़ी में आंच नहीं।....जो रोजगार में थे उनकी भी छटनी कर दी।'[13] जिस कौम का युवा वर्ग बेकारी और बदहाली से ग्रस्त होगा, वहाँ तब्बाही अव्यवस्था का फैलना स्वाभाविक था।

बख्शी गुलाम मुहम्मद, गुलाम मोहम्मद सादिक, शेख मुहम्मद अब्दुला जैसे विभिन्न कश्मीरी नेता-गण के नामों के उल्लेख से उपन्यास में कश्मीर की राजनीति पर भी प्रकाश डाला गया है। 'वर्ष 1984 में केंद्र की सरकार ने जनता द्वारा चुनी गई फारुख अब्दुला की सरकार को अचानक बर्खास्त कर दिया और उन्हीं के बहनोई जी एम शाह को मुख्यमंत्री बना दिया। एक बार फिर राजनीति के खेल के आगे फटेहाल डेमोक्रेसी विधान सभा के बाहर खड़ी दामन पसार कर भीख मांग रही थी।'[14]

एकता का यह नारा देने वाले लोगों में कब साम्प्रदायिकता की आग फैली, पता ही न चला। किन राजनैतिक निर्णयों ने

कश्मीरी लोगों के दिलों में केंद्रिय सरकार के प्रति घृणा बढ़ती ही गई, आभास ही नहीं हुआ। 'अब आंदोलन सड़कों पर उतर आया और इसका कहर कश्मीरी पंडितों पर बरसा। केंद्रिय सरकार को हिंदुओं से जोड़कर देखा गया। इसलिए कश्मीर की आज़ादी का आंदोलन अब कश्मीर को पूरी तरह से मुस्लिम स्टेट बनाने का आंदोलन हो गया....'[15] जेहाद का हवाला देकर कश्मीरी युवा लड़कों को सीमा पार ले जाकर आंतक फैलाने की ट्रेनिंग दी गई, आधुनिकतम हथियार चलाना सिखाया गया। सीमा पार से लौटकर वह अपना कहर अपनी ही वादी में फैलाने लगे। 'ये सारा कहर तब कश्मीरी पंडितों पर टूटता था। उनका उद्‌देश्य था हिंदुओं को घाटी से भगाओ जिससे यह एक मुस्लिम स्टेट बने, तब रायशुमारी की भी भला क्या जरूरत पड़ेगी।'[16]

निहत्थे, निर्दोष पंडितों की अकारण मौतें, अचानक बाज़ारों, सड़कों पर बम फटना, बहू-बेटियों का अगवा होना, बलात्कार, घर खाली करने के भयानक संदेश मिलना-यह सब के कारण 'कश्मीरी पंडित रातों-रात जैसे-तैसे वहाँ से भाग रहे थे। अपने ही स्टेट में अपनी जन्मभूमि में पलायन करने को मज़बूर थे। अपना घर, अपनी सम्पत्ति छोड़कर शरणार्थी शिविरों में रहने को मजबूर थे।'[17]

घर से बेघर होने की टीस शबरी और उसके जैसे अन्य पंडित जन के दिलों-दिमाग में आजीवन कचोटती रही। दबड़े जैसे शिवरों में तपते हुए जीवन काट कर वह अपनी वादी की ठंडक और अपने घरों को याद किए बिना कुछ नहीं कर सकते थे।

घाटी में रह गए अकेले मुस्लिम समुदाय का हाल भी चिंता मुक्त न था। उनका जीवन अनिश्चितता और आतंक से पूर्ण था, पंडित समुदाय अपनी बहू-बेटियों को बुरी दृष्टि से बचाने के लिए वादी से पलायन कर गए थे, लेकिन वादी में रह रही मुस्लिम महिलाओं की आन पर आंच न आई हो, ऐसा न था। 'घाटी में रहने वाले इशारों पर चलना होता है तो दूसरी ओर पुलिस तथा सेना की ज्यातियाँ सहनी होती है। गोली-बारी, बम फटना, कर्फ्यू तो आम बात थी...।'[18]

कश्मीर की युवा महिलाऐं पर्दे में कैद और युवा युवक सीमा पार या आतंक फैलाने की शिक्षा ले रहे थे या वादी में सेना की गोलियों के शिकार हो रहे थे, जिनके शवों को बाहरी आतंकवादी घोषित कर दिया जाता। 'ज़रा-सा शुबह होते ही सुरक्षा संस्थाऐं क्यों कुछ लोगों को जबरन लापता भी कर देती है।...फिर उन फर्जी मुठभेड़ों के लिए क्या कहा जाए? आतंक फैलाकर आतंकवाद का जवाब?....फिर किस पर भरोसा करे कोई? सुरक्षा संस्थाओं पर, सरकार पर या न्याय के सिंहासनों पर बैठे महानुभावों पर? किस पर?' युवा वर्ग के नाम क्यों लापता लोगों की सूची में चढ़ जाते हैं?[19] क्यों कश्मीर का स्वर्ग नरक में बदल गया? क्या हो गया मेरे कश्मीर को?

कश्मीरी पंडित समुदाय से संबंधित होने के कारण उपन्यास में इस समुदाय की संस्कृति के कई उदाहरण मिलते हैं जैसे 'पोशपूजा' अर्थात् विवाह के समारोह में वर-वधू पर पुष्पों की वर्षा कर पूजन करना। 'अटहरू' अर्थात् कानों में पहनने वाला एक लंबा लटकने वाला आभूषण जो विवाहित कश्मीरी पंडित महिलाऐं पहनती हैं। 'दिवगोन' अर्थात् विवाह के पूर्व देवगणों के आह्‌वान तथा पूजा का समारोह। 'कलपुश' अर्थात् कश्मीरी महिलाओं द्वारा पहनने वाली सिर की टोपी। 'नवशीन' - एक रस्म का उल्लेख कई बार हुआ है, जिसमें मौसम की पहली बर्फ का थोड़ा-सा बर्फ किसी के हाथ में पकड़ा कर 'नवशीन' (नई बर्फ) कह दे तो उस व्यक्ति पर दावत देना आवश्यक हो जाता। 'वनवन' -शुभ अवसरों पर गाए जाने वाले पारंपरिक शुभ गीत। 'कोहेशीन' -बर्फ समेट कर उसका कोह अर्थात् पहाड़ बनाना, 'शीत जंग' एक दूसरे पर बर्फ फेंक कर खेलना। 'वाज़वान' - शुभ अवसरों पर मुस्लिम वर्ग में पकाया जाने वाले विभिन्न व्यंजन। 'वटुखपूजा' -शिवरात्रि के अवसर पर घड़े में अखरोट भर कर की जाने वाली पूजा।

कश्मीर की संस्कृति तथा सभ्यता और सामाजिक इतिहास को लेकर लिखे गए इस उपन्यास में कश्मीरी वातावरण की भरमार है। 'कश्मीरियत को वहीं के मुहावरों, कहावतों और किंवदन्तियों में अत्यंत आत्मीयता से पिरोकर लेखिका ने आंचलिक साहित्य में एक संगेमील जोड़ा है।'(फ्लैप से)

भूगोल की दृष्टि से कश्मीर के विभिन्न स्थलों के नामों का प्रयोग उपन्यास में कश्मीरी वातावरण की पुष्टि करता है, जैसे कन्याकदल, गणपतचार रैणावारी क्रालयार पुलवामा आदि।

कश्मीर की विभिन्न पारंपरिक वस्तुओं का उल्लेख भी मिलता है, जैसे-कांगड़ी, हाख़ (साग), वगुव (चटाई) , खोस (प्याली), डूंगे (सालन के बर्तन), श्रीरचाय (नमकीन चाय) , तुम्बकनारी (एक प्रकार का तबला), सौय (एक खुजली वाली जंगली झाड़ी), गब्बा (बैठने वाली कढ़ाई की दरी) कन्यी (मकान का सबसे ऊपर वाला कमरा)।

उपन्याया में उर्दू, अंग्रेज़ी शब्दों के अतिरिक्त कश्मीरी भाषा के शब्दों का बाहुल्य है, जो पाठकों के लिए भाव-विरोधक हो सकता था, यदि लेखिका ने पाद-टिप्पणियों में उन कश्मीरी शब्दों का हिंदी अर्थ न दिया होता। कश्मीरी भाषा की लोकप्रिय कवयित्री ललघद (लल्लेश्वरी) के पद्यांशों का भावानुवाद देकर पाद-टिप्पणी में वास्तविक कश्मीरी पद्य को दिया गया है। कश्मीरी गीतों, लोक गीतों, बालगीतों को भी हिंदी अनुवाद में

लिख कर उनका वास्तविक रूप कश्मीरी भाषा में पाद-टिप्पणी में प्रस्तुत किया गया है या तो कश्मीरी गीत का उल्लेख उपन्यास में आए तो उसका हिंदी अर्थ पाद-टिप्पणी में मिलता है। यह प्रक्रिया कश्मीरी और हिंदी दोनों भाषाओं का तारतम्य सरल बनाती है।

कई बार लेखिका ने प्रचलित कहावतों का शब्दानुवाद-सा प्रस्तुत किया है। फिर चाहे वह शब्द हिंदी भाषा से मेल न भी खाएं। जैसे 'अधकटा' जिसका शाब्दिक अर्थ है आधा कटा हुआ, किंतु यह कश्मीरी भाषा में घृणा से दी जाने वाली गाली है। जैसे 'मेरी आँखों में कौन-सी चिंगारियाँ लगी।' जिसका भावार्थ है कि मेरी दृष्टि क्यों न भांप सकी या मैं क्यों न समझ पाई।

संपूर्ण उपन्यास में पूर्व दीप्ति पद्धति का प्रयोग हुआ है। सारे पात्र अपने अतीत की स्मृतियों में जी रहे हैं। ससुराल में उपेक्षित-सी शबरी अपने मायके की याद में डूबी रहती है और दो वर्ष उपरांत विधवा होने पर मायके में रह कर ससुराल के आतंक को याद कर सिहरती रहती है। 'सीढ़ियों पर कुछ कदमों की तेज़ आहटें सुनाई दी तो कुछ दिन पुरानी घटना की स्मृति में खोई शबरी वापस लौटी थी।' पूर्वदीप्ति का एक और उदाहरण तब मिलता है, जब अम्बरनाथ शबरी को मायके वापस लाने के लिए घोड़े पर बैठकर निकलता है तो, आज इन घोड़े पर बैठ कर उसे बीता हुआ जाने क्या-क्या याद आ रहा था...।

उपन्यास में 'एक कोई था, कोई नहीं सा' शीर्षक से एक विस्तृत बालगीत मिलता है जो शबरी अक्सर बच्चों को सुनाती थी। शबरी सुनाती तो उसे लगता कि वह कश्मीरी पंडित समुदाय को संबोधित करती है, जो था, जो है किंतु मानो नहीं है। शबरी की यह अनुभूमि हृदयभेदक है। अतः 'यह उपन्यास मानव संबंधों की एक उलझी पहेली है। एक ओर यहाँ अपने ही देश में लोग डायस्पोरा का जीवन जी रहे है तो दूसरी ओर आतंकवाद के साए में घाटी में रह रहे लोग, अचानक हुए अपने बेटे-बेटियों को तलाश रहे हैं...(फ्लैप से) इस ओर या उस ओर, कश्मीर का निवासी चाहे कही भी रहे, उसकी जड़ें कश्मीर की धरती में ही रहेगीं और उसकी आँखें सदा शांति, प्रेम भाईचारे को ही तलाशती रहेगीं।

संदर्भ-

1. मीरा कांत, एक कोई था, कोई नहीं सा, पृ. 217
2. वही, पृ. 105
3. वही, पृ. 38
4. वही, पृ. 20
5. वही, पृ. 21
6. वही, पृ. 52
7. वही, पृ. 83
8. वही, पृ. 53
9. वही, पृ. 224
10. वही, पृ. 95
11. वही, पृ. 129
12. वही, पृ. 130
13. वही, पृ. 71
14. वही, पृ. 71
15. वही, पृ. 173
16. वही, पृ. 175
17. वही, पृ. 175
18. वही, पृ. 224
19. वही, पृ. 225

वरिष्ठ सहायक प्रधापक, हिंदी विभाग, कश्मीरी विश्वविद्यालय, श्रीनगर-6
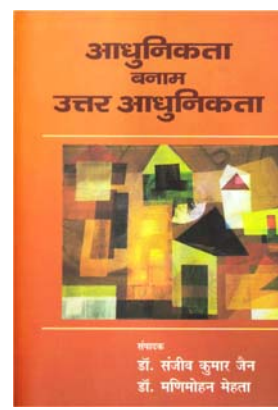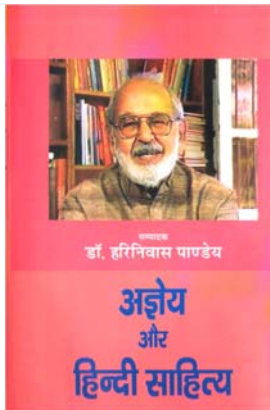
आचार्य नंददुलारे वाजपेयी का शिक्षा–संबंधी विवेचन

मनोज कुमार सिल

आचार्य नंददुलारे वाजपेयी हिंदी साहित्य के सौष्ठववादी और स्वच्छंदतावादी काव्य के मूर्धन्य समीक्षक तथा विद्वान हैं। उनका आगमन हिंदी के छायावादी काव्य और कवि त्रेय प्रसाद-निराला-पंत के विवेचक रूप में हुआ। 'नये जीवन-दर्शन, नयी भावधारा, नूतन कल्पना-छवियों और अभिनव भाषा रूपों को देखकर वे इन कवियों की ओर आदृष्ट हुए थे।'[1] आचार्य वाजपेयी जी के इस मूल भित्ति से उनकी साहित्यिक प्रवृत्ति के प्रमुख स्रोत का बोध होता है और वह है- नवीनता के प्रति उनका आग्रह। वे कवि माघ के 'क्षणे-क्षणे यन्नवता मुपैती, तदैव रूपं रमणीयता'[2] के सिद्धांत को आत्मसात् करते हुए नित-नवीनता के सूचक तत्त्वों में ही सौंदर्य के निष्पन्नता को स्वीकारते हैं। इसी तरह उन्होंने हिंदी साहित्य-समीक्षा को शुद्ध साहित्यिक समीक्षा का नवीन मानदंड दिया। आचार्य वाजपेयी का नवीनता दृष्टिकोण उनकी रचनात्मक लेखन और कार्य का प्राण है।[3] यही नव्यता के प्रति उनका आग्रह साहित्य समीक्षा के साथ ही साथ उनके शिक्षा-संबंधी विवेचनों में भी दिखता है।

आचार्य नंददुलारे वाजपेयी ने सन् 1930-32 में 'भारत' अर्ध-साप्ताहिक पत्रिका के संपादक के पद पर कार्य करते हुए अपने शिक्षा-संबंधी विचारों को लेख और टिप्पणियाँ के रूप में 'भारत' के संपादकीय स्तंभों में प्रकाशित किया। उनके शिक्षा-संबंधी विचार काशी विश्वविद्यालय तथा हिंदी विभाग के विद्वत समाज के शैक्षिक परिवेश और शिक्षा-नीति के प्रतिक्रिया की देन है। इनमें वाजपेयी जी ने औपनिवेशिक भारत के शिक्षा-विषयक समसामयिक समस्याओं को उठाया है। साथ ही औपनिवेशिक भारत के सांस्कृतिक परिवेश के सूक्ष्मातिसूक्ष्म संदर्भों पर भी गहनता से विचार किया है।

आचार्य नंददुलारे वाजपेयी के अनुसार शिक्षा संस्कृति का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग है। राष्ट्र के उन्नत शैक्षिक परिवेश से ही महानतम संस्कृति जन्म लेती है। वे भारतवर्ष के प्राचीन ज्ञान-विज्ञान, साहित्य, कला और संस्कृति के प्रति श्रद्धावनत् थे। कहा जाता है कि भारत की प्राचीन सभ्यता आदर्श थी। यह भी कहा जाता है कि इस समय समस्त संसार को भारत की आध्यात्मिक शिक्षा की आवश्यकता है। परंतु जब तक भारतवासी अपना पेट नहीं भर पाते, जब तक वे और उनकी संतान अशिक्षा में पड़े जीवन के साधारण सुखों से भी वंचित हैं तब तक वे दूसरों को शिक्षा देने के अधिकारी नहीं कहला सकते।''[4]

आचार्य नंददुलारे वाजपेयी भारतवर्ष के आधुनिक शिक्षा प्रणाली की बात करते हुए उसमें आमूलचूल परिवर्तन की आवश्यकता की आशा व्यक्त करते हैं। वे शिक्षा के क्षेत्र में सामूहिक शिक्षा के प्रसार तथा शिक्षा के व्यवहारिक पक्ष पर अधिकाधिक कार्य प्रणालियों की ओर प्रबुद्ध जनों का ध्यान आकर्षित करते हैं। ब्रिटिश शासनाधीन भारतवर्ष के सर्वांगीण विकास और उन्नति के लिए सामूहिक शिक्षा परमावश्यक थी। शिक्षा के व्यापक प्रचार-प्रसार के बिना देश की अशिक्षित जनता न ही अपने अधिकारों को समझ सकेगी और न ही उसकी रक्षा ही कर पाएगी। आचार्य वाजपेयी जी के अनुसार देश की राजनीतिक पराधीनता, सामाजिक कुरीतियों तथा सांप्रदायिक समस्याओं का प्रमुख कारण अशिक्षा है और उसकी दवा सामूहिक शिक्षा का प्रचार है ''हमारी प्रारंभिक आवश्यकता है सामूहिक शिक्षा प्रचार। यह हमारी राजनीतिक आवश्यकता है, यही सामाजिक आवश्यकता है और भारतवर्ष के लिए यही धार्मिक आवश्यकता भी है। इस समय हमें धार्मिक कहना हमारा व्यंग्य करना है। किसी जमाने में हम धार्मिक रहे होंगे, पर आज हम पूरे अधार्मिक हैं। अशिक्षा के अंधकार में हमने बड़े-बड़े अत्याचार किए हैं और अब भी कर रहे हैं। हमारी राजनीतिक पराधीनता, हमारे सामाजिक अत्याचारों और हमारे सांप्रदायिक कलह फूट का कारण प्रमुख रीति से यही अशिक्षा है।''[5] आचार्य वाजपेयी ने भारतवर्ष के अशिक्षा की समस्याओं और उसके व्यावहारिक उपायों की ओर ध्यानाकर्षित किया।

सन् 1917 में ब्रिटिश सरकार ने भारत के शिक्षा व्यवस्था को देखते हुए उसके सुधारात्मक उपाय हेतु डॉ. एम. ई. सैडलर की अध्यक्षता में शिक्षा आयोग को गठित की। इसके अंतर्गत भारतीय विश्वविद्यालयों की समस्या का अध्ययन कर शैक्षिक परिवेश को बेहतर बन जाय। सन् 1919 में इस आयोग

ने भारत के सभी विश्वविद्यालयों के कार्यों ध्यान देते हुए एक व्यापक रिपोर्ट प्रस्तुत की। आयोग के अनुसार- 'भारतीय शिक्षित वर्ग में पेशेवर और व्यावसायिक प्रशिक्षण का अभाव है जिसके कारण उन्हें जीवन निर्वाह के उपयुक्त अवसर नहीं मिलते। बजाय इस तरह के व्यावसायिक विषयों के प्रशिक्षण के लिए क्षेत्र बनाने के आयोग ने शिक्षा के परंपरागत और प्रचलित कार्य-सरणियों का ही समर्थन किया। आयोग ने यह कहा कि चिकित्सा और कानून की स्थापित संस्थानों की तुलना में डिग्री पाठ्यक्रम में अन्य तकनीकी और व्यावसायिक विषयों को पढ़ने वालों की संख्या अपेक्षाकृत सीमित है। इस तरह की शिक्षा अत्यधिक औद्योगीकृत राष्ट्रों के लिए आवश्यक है। भारत को बुद्धिमान और शिक्षित पुरुषों की आवश्यकता है। उसे उच्च प्रशिक्षित वैज्ञानिक-विशेषज्ञों की अभी ज़रूरत नहीं . .....(मूल से अनूदित')'[6] आचार्य वाजपेयी सेडलर आयोग के तात्कालिक रिपोर्ट और सुधारात्मक शिक्षा उपायों के दस वर्ष के पश्चात् शिक्षा व्यवस्था की नाकामी का विवरण देते हैं - ''हमारी आज की शिक्षा प्रणाली के विरोध में एक बड़ी दलील यह है कि इससे पेट नहीं भरता। पढ़े-लिखे बेकारों की जाति ही हमारे समाज में अलग बनती जा रही है जो आँखों के चश्में, पचीस वर्ष के पहले सिर के सफेद बालों, दुर्बल करुण मुखाकृति की विशेषताओं से संयुक्त होने के कारण देश भर में पहचानी जा सकती है। यह जाति आधुनिक शिक्षा का व्यंग्य करने के लिए नित्य प्रति संख्या में बढ़ती जा रही है। इसे देखकर अशिक्षित समाज भी चुटकियाँ लेता है और कहता है वाह री तुम्हारी शिक्षा ! यह उभयमुखी विडंबना है।''[7] आचार्य वाजपेयी ब्रिटिश शासनाधीन भारतवर्ष के शिक्षा संबंधी समस्याओं को काफी गंभीरता से व्याख्यायित करते हुए शिक्षित बेरोजगारी की समस्याओं को उठाते हैं।

आचार्य वाजपेयी के अनुसार तत्कालीन ब्रिटिश शासनाधीन भारतवर्ष के सम्मुख प्रधानतः दो चुनौतियाँ थी पहली शिक्षा के प्रति व्यापक लोक रुचि के संवर्धन और दूसरी शिक्षित बेरोजगारी को दूर करने की। देश के अशिक्षा की समस्या को दूर करने के लिए सर्वप्रथम शिक्षित नवयुवाओं की स्थिति में सुधार लाना ज़रूरी था, क्योंकि तत्कालीन देश की शिक्षित जनों की स्थिति और अशिक्षित जनता में कुछ ज्यादा अंतर नहीं था। उनकी अवस्था किसी भी स्तर अशिक्षित जनता से अच्छी नहीं थी। कहीं-कहीं पर तो अशिक्षित जनता की हालत अधिकांश शिक्षित जनों से बेहतर थी। प्रत्येक सभ्य समाज का यही दायित्व है कि वह समाज में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति के भोजन-आच्छादन की मौलिक आवश्यकताओं को पूर्ण करें। पर भारत का शिक्षित समाज ही मानव जीवन की मूलभूत अनिवार्य आवश्यकताओं को ही पूरा नहीं कर पाता। वाजपेयी जी शिक्षित वर्ग के दयनीय दशा और उनके बढ़ते असंतोष की भावना से चिंतित थे। वे लिखते हैं कि- ''समाज में कोई रोजगार-धंधा, कोई व्यवसाय बड़े पैमाने पर नहीं चल रहा है जिसमें वर्तमान बेकार समूह की विद्या-बुद्धि योग दे सके। एक निश्चित तायदाद में जो नौकरियाँ हैं वे एक बड़ी हद तक यहाँ के विदेशी शासकों के हाथों में हैं। जितनी राष्ट्रीय अथवा गैर सरकारी संस्थाएं हैं वे सब खचाखच भरी हुई हैं। नई संस्थाएं नहीं खुल रही हैं और पुरानी संस्थाओं में जगह नहीं है। ... शिक्षितों की संख्या बढ़ती जा रही है। प्रति वर्ष पचासों हज़ार मेट्रीकुलेटस और हजारों ग्रेजुएट विश्वविद्यालयों से निकल रहे हैं। शिक्षा की इस बाढ़ के साथ-साथ बढ़ती हुई बेकारी को देखते हुए यह शंका स्वभावतः उत्पन्न होती जा रही है कि आखिर इस समस्या का ओर-छोर कहाँ है। क्या इसी तरह वर्ष पर वर्ष सरस्वती देवी के सिंहद्वार में प्रवेश करने वाले उसके लाखों उपासक आज की ही तरह वंचित और विपन्न बने रहेंगे।''[8] वे भारतवर्ष के प्राचीन ज्ञान-विज्ञान गुणगान को समसामयिक दृष्टि से व्यर्थ मानते हैं। उसकी कोई उपयोगिता नहीं है जब तक की वह पराधीनता के कवच से निकल कर स्थितिशील न बन जाए। वह अपने प्राचीन शिक्षा के गौरव, मोह और अहं-बोध के कारण ही आज समय की धुरी से छिटक गया है। उसे समय की गति को पहचानना होगा और उसकी उचित औषधि करनी होगी अन्यथा वह अपनी बची-खुची साख भी खो देगा।

आचार्य नंददुलारे वाजपेयी ने अशिक्षित भारतीय जनमानस में शिक्षा के प्रति अभिरुचि को उत्पन्न करने तथा उपयुक्त सुधारों की आवश्यकता बल देते हुए देशवासियों के लिए लौकिक शिक्षा के प्रचार का आग्रह प्रस्तुत किया। वे लिखते हैं कि ''हम यह जानना चाहते हैं कि शिक्षा की ओर लोक रुचि किस प्रकार होगी। हमारे देहातों का अज्ञान कैसे दूर होगा? यदि हम कहें कि इस समय हमें एकमात्र लौकिक शिक्षा की आवश्यकता है जिससे हम स्थितिशील हो सकें, आगे चलकर हम शिक्षा के आध्यात्मिक आदर्शों को ग्रहण कर सकेंगे तो क्या यह अनुचित होगा? यदि हम कहें कि हमें वैसी शिक्षा चाहिए जिससे हम शरीर से जीवित रह सकें तो क्या यह बहुत बेजा बात होगी?''[9] आचार्य वाजपेयी शिक्षा के द्वारा भारतवासियों के आध्यात्मिक पक्ष अर्थात् नैतिक मूल्यों, आचार-व्यवहार, बौद्धिक प्रगति व विकास से कहीं ज्यादा लौकिक शिक्षा के व्यावहारिक और चाक्षुष प्रगति की आवश्यकता को महसूस करते हैं। क्योंकि भारत की अशिक्षित जनता के पास आध्यात्मिक व बौद्धिक विकास के लिए अभी अवकाश नहीं है।

आचार्य वाजपेयी एशिया शिक्षा सम्मेलन के प्रथम अधिवेशन की समाप्ति पर उसकी सफलता-असफलता के संबंध में 'सफल या असफल' शीर्षक संपादकीय लेख लिखते हैं। वे शिक्षा से संबंधित इन सम्मेलनों को नवीनतम सूचनाओं के आदान-प्रदान, प्रादेशिक-सार्वदेशिक एकता, सहयोग-समन्वय और विचार-विनिमय की दृष्टि से उपयोगी स्वीकार करते हैं। उन्होंने सम्मेलन में चीनी प्रतिनिधि श्री बोंग के वक्तव्य में चीन के मिडिल स्कूलों में चल रहे व्यावहारिक शिक्षा की प्रणाली की प्रशंसा की। साथ ही भारतवर्ष में भी चीन की तरह के शिक्षा विषयक पदाक्षेप लेने का सुझाव दिया, जिससे देश की तद्‌युगीन शिक्षित बेकारी की समस्याओं पर थोड़ा बहुत अंकुश लगाया जाए। वे चीन के शिक्षा नीति की प्रशंसा करते हुए लिखते हैं कि "एशिया शिक्षा सम्मेलन से अवश्य ही हमारी जानकारी बढ़ी और हमने यह समझने का उद्योग किया कि दूसरे देश किस-किस प्रकार अपने जटिल प्रश्नों का हल कर रहे हैं। उदाहरण के लिए चीनी-प्रतिनिधि श्री बोंग ने अपने यहाँ के मिडिल स्कूलों का विवरण देते हुए बताया कि चीन में शिक्षा को किस प्रकार व्यावहारिक बनाया जा रहा है और किस प्रकार भिन्न-भिन्न स्थानों की अवस्था को देखकर अनुकूल शिक्षा का प्रबंध किया जा रहा है। कृषि-प्रधान स्थानों में कृषि-शिक्षा का प्रबंध किया गया है और अनेक प्रकार के जीवनयापन में उपयोगी सिद्ध होने वाले शिक्षालय खोले गए हैं। श्री बोंग के कथन के अनुसार काम करने की सबसे अधिक आवश्यकता हमारे देश में है।"[10] आचार्य वाजपेयी जी भारतवर्ष में भी चीन के तरह की ही व्यावहारिक तथा उपयोगितावादी शिक्षा प्रणाली की आवश्यकता पर बल देते हैं जिससे देश में शिक्षा के प्रति व्यापक लोक रुचि आसानी उत्पन्न हो सके।

आचार्य वाजपेयी जी का शिक्षा क्षेत्र जितना बाहरी दबाव और हस्तक्षेप से मुक्त रहेगा उतना ही ज्ञान-विज्ञान के विकास का मार्ग प्रशस्त और सुगम होगा। इसीलिए वे शिक्षा संस्थाओं में राजनीति के प्रवेश को निषिद्ध मानते हैं। वे "ज्ञान की महिमा" शीर्षक संपादकीय लेख में ज्ञान क्षेत्र की स्वतंत्र और लोकतांत्रिक रीति से विकास की मांग करते हुए लिखते हैं कि "ज्ञान के क्षेत्र में अर्थात् विश्वविद्यालयों में अज्ञानियों का या अर्द्ध ज्ञानियों का किसी तरह अधिकार न होना चाहिए, सब तरफ से प्रवेश-निषेध होना चाहिए। ज्ञान को स्वतंत्र रीति से विकास का अवसर मिलना चाहिए। राजव्यवस्था उसके मार्ग में किसी तरह बाधा न डाले और न राजनीतिज्ञ ही उसमें प्रवेश कर सके। यह तो हम मानते हैं कि शिक्षा संबंधी संस्थाएं बाहरी प्रभाव से जितना ही अधिक मुक्त होंगी उतना ही अच्छा होगा।"[11] अतः शिक्षा क्षेत्र में किसी भी प्रकार का प्रशासनिक हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए।

आचार्य वाजपेयी ने 'भारत' में प्रकाशित अपने शिक्षा-संबंधी लेखों में ब्रिटिशकालीन भारत की शिक्षा व्यवस्था की त्रुटियों और उसकी व्यवहारिक समस्याओं को उठाया है। साथ ही शिक्षा-संबंधी समस्याओं के समाधान में प्रशासन की अक्षमता को भी बार-बार प्रदर्शित किया है। आज परिस्थितियाँ बदल चुकी है देश को आज़ादी मिल गई। हम आज़ाद हुए भी एक अरसा बीत गया है, वाजपेयी जी के लेखों के भी 8-9 दशक हो गए हैं और उनके शिक्षा-संबंधी विचार भी 'भारत' पत्रिका के जर्जर पृष्ठों में ही बसे हुए हैं। लेकिन जब हम इन्हें पढ़ते हैं तो लगता कि आज भी हम वहीं हैं, आचार्य वाजपेयी के शिक्षा-संबंधी विचार आज भी प्रासंगिक प्रतीत होते हैं।

संदर्भ-

1. आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, मासिक 'कालिदास', मेरा साहित्यादर्श, जनवरी 1962 पृ. 17-18
2. डॉ. भागीरथ मिश्र, भारतीय काव्यशास्त्र, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।
3. नंददुलारे वाजपेयी, आधुनिक साहित्य : सृजन और समीक्षा, स्वराज प्रकाशन 2009, विज्ञप्ति।
4. (सं.) कृष्णकांत शर्मा, नवजागरणकालीन पत्रकारिता और भारत, अनामिका पब्लिशर्स, नई दिल्ली, भाग-1 पृ. 196
5. वही, पृ. 126-127
6. पी. एन. चोपड़ा, बी. एन. पूरी, एम. एन. दास, ए सासियल, कल्चरल एंड इकोनामिक्स हिस्ट्री ऑफ इंडिया खंड –III, मैकमिलन, न्यू दिल्ली, पृ. 278 (*) अनुवाद स्वयं लेखक द्वारा किया गया है।
7. (सं.) कृष्णकांत शर्मा, नवजागरणकालीन पत्रकारिता और भारत, अनामिका पब्लिशर्स, दिल्ली, भाग-1, पृ. 127
8. वही, पृ. 390
9. वही, पृ. 127
10. वही, पृ. 131
11. (सं.) कृष्णकांत शर्मा, नवजागरणकालीन पत्रकारिता और भारत, अनामिका पब्लिशर्स, नई दिल्ली, भाग-2, पृ. 531

प्रवक्ता, हिंदी विभाग, लखीमपुर कामर्स कॉलेज, नार्थ लखीमपुर (असम)-787001

उत्तर–आधुनिकतावाद : साहित्यिक सन्दर्भ में

सौरभ कुमार

उत्तर आधुनिकतावाद एक ऐसा संश्लेषणात्मक समाज शास्त्रीय सिद्धान्त है जो विभिन्न ज्ञान शाखाओं से तथ्यों और अवधारणाओं को लेकर भविष्य के समाज के बारे में एक एकीकृत विचारधारा प्रस्तुत करता है। यह भविष्य के बारे में सिद्धान्त बनाने का एक ऐसा प्रयास है जो दर्शनशास्त्र, साहित्यशास्त्र, कला, शिल्पकला आदि से बहुत कुछ ग्रहण कर अपने निश्चित संदर्भ में वस्तुओं को व्यवस्थित करता है। इसका आविर्भाव विकसित और व्यवस्थित देशों की जीवन-पद्धतियों से जुड़ा है। दूसरे शब्दों में, इसका सम्बन्ध आधुनिकता से जुड़ा है। अतः यहाँ सबसे पहले आधुनिकता का उल्लेख करना आवश्यक है।

आधुनिकता एक विशेष प्रकार की जीवन शैली है। इसका सम्बन्ध एक खास तरह के अनुभव, एक विशेष प्रकार की संस्कृति से है। इसमें आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक गठबंधन होता है, जो इसे एक पृथक् पहचान देता है। इसमें सांस्कृतिक एकाधिकता होती है, अनेक जातियाँ, भाषाएँ और संस्कृति क्षेत्र होते हैं। आधुनिकता में लचीलापन होता है और यह हमेशा नये अविष्कारों में जुटी रहती है। इसे खान-पान, रहन-सहन सभी में देखा जा सकता है। इसके दूसरे पक्ष में, यह समाज का बौखलाया चरित्र प्रस्तुत करता है। इसमें हर आदमी दौड़ता-भागता प्रतीत होता है और तो और भीड़ में भी वह एकदम तन्हा महसूस करता है। यह तन्हाई उसकी नियति बन जाती है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रतियोगिता करता रहता है। रात-दिन भाग दौड़ करते हुए भी कहीं उसे संतोष की प्राप्ति नहीं होती। परिणामस्वरूप उसका यह संतोष कभी-कभी उत्तेजित भी हो जाता है। आधुनिकता के ये द्विपक्षीय लक्षण मनुष्य की मनःस्थिति को दर्शाते हैं। आधुनिकता एक प्रकार से औद्योगिक अर्थ व्यवस्था का दर्पण होता है। यही आधुनिकता जब अत्यधिक विकसित हो जाती है, तब इसे उत्तर-आधुनिकता कहते है।

उत्तर-आधुनिकतावाद की चर्चा जब कभी भी की जाती है तब आधुनिकता से सम्बन्धित शब्दों के एक परिवार का प्रयोग आमतौर पर किया जाता है। कई बात तो ये शब्द पर्यायवाची रूप में प्रयुक्त होते हैं तो कई बार इसके मनमाने प्रयोग से अर्थ की अस्पष्टता की स्थिति बन जाती है। ऐसी अवस्था में यह आवश्यक है कि उत्तर आधुनिकतावाद से सम्बन्धित कुछ शब्दों की अवधारणा स्पष्ट हो। इस दृष्टि से यहाँ कुछ शब्द-आधुनिकता उत्तर-आधुनिकता आधुनिकीकरण तथा आधुनिकतावाद विशेष उल्लेखनीय है-

आधुनिकता

आधुनिकता का सम्बन्ध एक खास तरह के अनुभव, एक विशेष प्रकार की संस्कृति से है। इसमें आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक गठबंधन होता है, जो इसे एक पृथक् पहचान देता है। आधुनिकता में सांस्कृतिक एकाधिकता होती होती है, अनेक जातियां, भाषाएं, सांस्कृतिक क्षेत्र होते हैं। इसमें लचीलापन होता है और यह हमेशा नये अविष्कारों में जुटी रहती है। इस काल का सौन्दर्यबोध बड़ा ही परिष्कृत होता है। .... भारतीय आधुनिकता की छवि शताब्दियों पुरानी चक्रों से, निर्धनता और पिछड़ेपन से कढ़ कर आई है। ....पूँजीवादी औद्योगिकरण तथा रमणीय भारतीय जीवन के स्वप्नलोकों के आधुनिक मॉडलों में ही भारतीय आधुनिकता के स्वरूप की अधिरचना की''[1] गई है।

आमतौर पर विद्वानों ने 'आधुनिकता' शब्द का प्रयोग अपने-अपने ढंग से किया है परंतु समाज शास्त्र में यह शब्द एक निश्चित अवधारणा है और इसलिए इसका अर्थ भी तकनीकी है। सामान्यतः यह अवधारणा इतिहास के एक निश्चित काल से जुड़ी हुई है।'' पहले समाज पवित्रता के साथ जुड़ा था, फिर यह समाज धर्मनिरपेक्षता यानि सिक्यूलर बना। यह काल परिवर्तन पवित्र से धर्मनिरपेक्ष कहलाता है। या दूसरे शब्दों में समाज परम्परागत अवस्था से आधुनिकता या औद्योगिक अवस्था में आया तब इसे आधुनिक कहते हैं। 'आधुनिकता' का यह अर्थ मूल्य या विचारधारा प्रधान है।''[2]

उत्तर-आधुनिकता

उत्तर आधुनिकता के विषय में स्थूल रूप से यह कहा जाता है कि ऐसा युग जो आधुनिकता के बाद आया। परंतु वास्तविकता यह नहीं है। आधुनिकता और उत्तर-आधुनिकता

की विचारधारा में फर्क है। ऐसी विचारधारा जो आधुनिकता के साथ जुड़े हुए तमाम सामाजिक स्वरूपों को ध्वस्त करता है, उत्तर आधुनिकता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि उत्तर आधुनिकता, आधुनिकता की विचारधारा को खारिज करती है, नकारती है, अस्वीकार करती है। प्रसिद्ध पाश्चात्य विचारक अरनाल्ड टोयन्बी इस पद का प्रथम प्रयोगकर्त्ता था। इसके बाद सन् 1979 में ल्योतार ने अपनी पुस्तक 'दि पोस्ट मॉडर्न कन्डीशन' में सबसे पहली बार इस अवधारणा को प्रयोग में लिया।

ल्योतार का कहना था कि ''उत्तर-आधुनिकता वस्तुतः एक जातीय अवधारणा है और केवल सृजनात्मक पद्धति ही नहीं।''[3] इस अवधारणा को रखते समय उन्होंने जोर देकर कहा कि ''आधुनिकता ने दो बड़ी गलत धारणाएं समाज विज्ञान में चला रखी है। ये धारणाएँ वास्तविकता पर आधारित न होकर, केवल मिथक हैं।''[4] इसकी कोई सर्वसम्मत परिभाषा देना निहायत ही एक दुष्कर कार्य हैं। जब अर्थ और परिभाषा के क्षेत्र में सहमति न हो तब ऐसी भ्रामक स्थिति का बनना स्वाभाविक ही है। फिर भी, उत्तर आधुनिकता का बड़ा सरोकार कला, संस्कृति और पुरातत्व से है, पर शायद दूसरी अधिकतम घनिष्टता साहित्य से है।

आधुनिकीकरण

आधुनिकीकरण का अर्थ है सामाजिक परिवर्तन और विकास। यह ''एक पुरानी प्रक्रिया के लिए गढ़ा गया शब्द है इसका प्रचलन अभी हाल में ही तेज़ी से बढ़ा है। यह प्रक्रिया सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया है जिसके द्वारा अल्प-विकसित समाज अधिक विकसित समाज में पाए जाने वाले सामान्य लक्षणों को प्राप्त करते हैं। यह प्रक्रिया अन्तर्राष्ट्रीय अन्तर-सामाजीय सन्देशवाहन के द्वारा गतिशील की जाती है।''[5]

राव राम मेहर सिंह जी ने अपने पुस्तक 'विकास का समाजशास्त्र' में आधुनिकीकरण की परिभाषा एक गणितीय सूत्र में प्रस्तुत की है जो इस प्रकार है-

$$\text{आधुनिकीकरण} = \frac{\text{परिवर्तन}}{\text{राष्ट्र निर्माण}}$$

नियोजित विकास, जिसका उद्देश्य एक ऐसे समतावादी समाज का निर्माण करना है, जो देश के शासक में जनता की सहभागिता, सामाजिक समता, सभी के लिए शिक्षा और समान अवसर। आर्थिक समता के सिद्धान्तों पर आधारित हो।[6]

भारत में पंचवर्षीय योजनाओं के परिणामस्वरूप शहरी व ग्रामीण समाज में परिवर्तन आये है- स्तरीकरण का तीव्र होना, जाति-व्यवस्था में उतार-चढ़ाव आदि। इन सबको आधुनिकीकरण की कोटि में रखा जा सकता है। इस प्रकार आधुनिकतावाद समाज की एक स्थिति या दशा है तो इसे गतिशील बनाए रखने वाली प्रक्रिया आधुनिकीकरण है।

आधुनिकतावाद

20वीं सदी का यह आन्दोलन नये सांस्कृतिक मूल्यों का जन्मदाता है। वास्तव में इसका विकास प्राचीनवाद की प्रतिक्रिया में, उसके विरोध में हुआ है। आधुनिकतावाद प्रयोगों पर जोर देता है। इसका उद्देश्य सतही दिखावे के पृष्ठ में जो आन्तरिक सत्य है, उसकी खोज करना है। आधुनिकतावादियों में जायसी, यीट्स, प्रौस्ट और काफ्का आदि का नाम साहित्य क्षेत्र में उल्लेखनीय है। काव्य के क्षेत्र में ईलियट और पोण्ड का नाम लिया जाता है।

मदन सरूप ने आधुनिकतावाद के लक्षणों को इस तरह प्रस्तुत किया है-

1. इसमें आचार शिव और सुन्दरम् के तत्त्व होते हैं।
2. यह अवधारणा भ्रमपूर्ण और अनिश्चित तत्त्वों की खोज करती है और बिना किसी लगाव के वास्तविकता की प्रकृति को समझती है।
3. इसमें एकीकृत व्यक्तित्व को नकारा गया है।''[7]

यद्यपि उपर्युक्त लक्षण मदन सरूप ने आधुनिकता के दिये हैं परंतु ये लक्षण उत्तर-आधुनिकता के लक्षण से भी मेल खाती है।

उत्तर-आधुनिकतावाद

इस वाद का अवधारणात्मक विवेचन करने से पूर्व यह समझना आवश्यक है कि इसका उद्गम विकसित पूँजीवादी देशों की संस्कृति से है। यह संस्कृति भी विशेष रूप से ललित कला के क्षेत्र में है। इस प्रकार आधुनिकता यदि आधुनिकतावाद की संस्कृति का अध्ययन है तो उत्तर आधुनिकता उत्तर-आधुनिकतावादी संस्कृति का अध्ययन है।''[8]

वस्तुतः ''उत्तर-आधुनिकतावाद का आविर्भाव 1960 के दशक में न्यूयार्क के कलाकारों से हुआ।''[9] इसके उपरांत सन् 1970 के दशक में इस आन्दोलन की लहर यूरोप के सिद्धान्तवेत्ताओं में देखने को मिली जिनमें जीन फ्रेंकोज की प्रसिद्ध पुस्तक द पोस्ट मॉडर्न कंडीशन 1984 ई. का प्रकाशन विशेषोल्लेखनीय है। इस कृति में ल्योटार्ड यह तर्क देते हैं कि ''जिसे हम सार्वभौमिक ज्ञान एवं प्रवर्त्तनवाद कहते हैं, वह और कुछ न होकर लफ्फाजी मात्र है।''[10] उनका यह विश्वास है कि किसी भी कार्य के पृष्ठ में केवल एक ही कारण हो, ऐसा संभव नहीं है, कारण कई होते हैं।

चूँकि उत्तर-आधुनिकता, उत्तर-आधुनिकतवादी संस्कृति

का अध्ययन करता है। अतः यहाँ 'उत्तर-आधुनिकता' पद को 'उत्तर-आधुनिकतावाद' पद के पर्याय के के रूप में लिया जा सकता हैं।

उत्तर-आधुनिक सिद्धान्त सबसे महत्त्वपूर्ण बहु-विषयक शैक्षणिक विकास है। इसकी व्याख्या कई उत्तर-आधुनिक सिद्धान्तवेत्ताओं ने की है जिनमें केलनर 1980, हार्वे 1989 ल्योटार्ड 1984, जीन बोड्रीयार्ड 1984, बोगर्ड 1990 तथा फ्रेडरिक जेमसन 1984 आदि मुख्य हैं। इन विचारकों ने उत्तर-आधुनिकता की व्याख्या सैद्धान्तिक परिप्रेक्ष्य में की हैं ''उत्तर-आधुनिक सिद्धान्त विविध क्षेत्रों में देखने को मिलता है। ये क्षेत्र हैं- कला, वास्तुकला, साहित्य, फ़िल्म, दर्शन, सांस्कृतिक सिद्धान्त, सामाजिक सिद्धान्त आदि।''[11]

साहित्यिक सन्दर्भ

उत्तर-आधुनिकता का बहुत बड़ा सरोकार कला, संस्कृति और पुरातत्व से है, परन्तु इसकी दूसरी घनिष्टता साहित्य से है। भारत में यह माना जाता है कि हिन्दी साहित्य में उत्तर-आधुनिकता बहुत पहले आई। इस सन्दर्भ में हिन्दी के जाने माने आलोचक सुधीश पचौरी का नाम लिया जा सकता है। उनका उत्तर-आधुनिकता और उत्तर-संरचना की विधा के साथ गहरा ताल्लुक है। उनकी 'आलोचना से आगे' पुस्तक में आज उत्तर-आधुनिकता की जो स्थिति है, उस पर लिखते हैं-''अरसे से हिन्दी में उत्तर-आधुनिकता की अनुगूंजें सुनाई पड़ रही हैं। (मनोहर श्याम जोशी के ''कुरू-कुरू-स्वाहा'' को उत्तर आधुनिकता उपन्यास कहकर विज्ञापित किया गया था) किसी उत्तर आधुनिक स्थिति की वजह ही उसका कोई स्थिर रूप नहीं है।''[12] सुधीश पचौरी दृढ़ता के साथ कहते हैं कि हिन्दी साहित्य में उत्तर-आधुनिकता का प्रवेश ही नहीं हुआ बल्कि यह स्थापित हो गई हैं। वे एक कदम और आगे बढ़ते हुए कहते हैं कि उत्तर-आधुनिकता हमारे जीवन में भी प्रवेश कर गई है- ''समाज उत्तर आधुनिक स्थितियों में दाखिल हो चुका है। हमारे अनुभव उत्तर आधुनिक बन रहे हैं। हमारी बहसों में अचेत रूप में हमारे बदलते हुए जगत के चित्र आने लगे हैं।''[13]

वस्तुतः आधुनिकता का विकास जो पिछले कई शताब्दियों में हुआ, उत्तर-आधुनिकता उसी चरम का प्रतिफल है किन्तु यह निरन्तर गतिशील है, इसका कोई केन्द्रवर्ती रूप अभी तक नहीं बन सका हैं क्योंकि यह विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया है। उत्तर आधुनिकतावादी व्यवस्था में साहित्य, संस्कृति, दर्शन, समाज और मनोविज्ञान को तर्कवादी सिद्धान्त का विखण्डन करके ही समझा जा सकता। उपभोक्तावाद की चरम स्थिति 'संग्रहवाद' है जिसका विरोध उत्तर आधुनिकतावादी विचारक ल्योतार करते हैं। यह पूंजीवादी विकास की नवीन स्थिति है जिसे एक सामाजिक विचारधारा कह सकते हैं।

किसी साहित्यिक कृति के निर्माण में अथवा पाठ में संरचना में पूर्व निर्धारित नियमों, परम्पराओं और मूल्यांकन का निषेध, यह विचारधारा करती है। महावृत्तान्तों (रामायण, महाभारत, बाईवल आदि) को नकारने के साथ-साथ यह मूल्य मीमांसा को भी नकारती है। इस प्रकार वह मूल्यहीनता की पक्षधर है। यह व्यक्ति केन्द्रित समीक्षा दृष्टि है जो यह मानती है कि कुछ भी सम्पूर्ण नहीं होता। अतः यह विचारधारा सम्पूर्णता का खण्डन करती है। उत्तर-आधुनिकतावाद एक ऐसी समीक्षा दृष्टि है जो स्थूल अर्थ के स्थान पर साभिप्रायता तथा अर्थ की अनेक छायाओं और प्रतिछायाओं को रेखांकित करती है। इसका फलसफा कोई एक विचारक अभी तक नहीं दे सकता है। विद्वानों ने अपनी-अपनी दृष्टि से इसे प्रस्तुत किया है। अतः विभिन्न आलोचकों के मतों में अन्तर्विरोध भी है।

आधुनिकता का अगला चरण उत्तर-आधुनिकता है, किन्तु उत्तर-आधुनिकतावादी दृष्टि आधुनिकता के गर्भ से उत्पन्न होते हुए भी उसका अतिक्रमण है। आधुनिकता और आधुनिकतावाद पर प्रश्नचिह्न लगने के उपरान्त उत्तर-आधुनिकतावादी सोच विकसित हुई। अतः यह कहा जा सकता है कि उत्तर आधुनिकतावाद आधुनिकता की कोख से जन्मा वह परखनली शिशु है जो गर्भस्थ होकर अपनी जननी को ही नष्ट कर रहा है।

सन्दर्भ सूची-

1. मेघ, डॉ. रमेश कुन्तल, परिशोध, अंक 34-35, पृ. 05
2. दोषी, एस.एल., आधुनिकता, उत्तर आधुनिकता एवं नव-समाजशास्त्रीय सिद्धान्त, जयपुर, रावत पब्लिकेशन्स, 2003, पृ. 08
3. दोषी, एस.एल., पूर्वोक्त, पृ. 150
4. दोषी, एस.एल, पूर्वोक्त, पृ. 150-151
5. सिंह, राव राम मेहर, विकास का समाजशास्त्र, नई दिल्लीः अर्जुन पब्लिशिंग हाउस, 2004, पृ. 34
6. सिंह, राव राम मेहर, पूर्वोक्त, पृ. 36
7. दोषी, शम्भूलाल, त्रिवेदी, मधुसूदन, उच्चतर समाजशास्त्रीय सिद्धान्त, जयपुरः रावत पब्लिशन्स, 2007, पृ. 393
8. दोषी, शम्भूलाल, पूर्वोक्त, पृ. 394
9. दोषी, शम्भूलाल, पूर्वोक्त, पृ. 394
10. दोषी, शम्भूलाल, पूर्वोक्त, पृ. 395
11. दोषी, शम्भूलाल, पूर्वोक्त, पृ. 396
12. पचौरी, सुधीश, आलोचना से आगे, दिल्लीः राधाकृष्ण प्रकाशन, 2000
13. पचौरी, सुधीश, पूर्वोक्त

एस.सी.डी. राजकीय महाविद्यालय, लुधियाना

समकालीन महिला–नाटककारों के नाटकों में युग–चेतना

डॉ. दयाल प्यारी सिन्हा

नाटक सामूहिकता की कला है। अतः नाटक का युग जीवन से प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है। स्वातंत्र्योत्तर काल युग-चेतना की दृष्टि से अत्यधिक उपयोगी काल है। इस युग के हिन्दी नाटकों में युग-चेतना सशक्त एवं यथार्थ रूप में अभिव्यक्त हुई है। हिन्दी-नाट्य-साहित्य के अन्तर्गत भारतेन्दु युग से लेकर अब तक अनेक महिला नाटककारों ने अपनी नाट्य-रचनाओं के माध्यम से युगीन चेतना की सशक्त एवं यथार्थ अभिव्यक्ति की है। इनमें कंचनलता सब्बरवाल, विमला रैना, मन्नू भंडारी, मृदुला गर्ग, कुसुम कुमार, मृणाल पांडे, त्रिपुरारि शर्मा, मीरा कान्त, विभा रानी, सरोज बिसारिया आदि प्रमुख हैं- ''इनके नाटक सामाजिक, ऐतिहासिक, धार्मिक, पौराणिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक, आर्थिक चेतना से युक्त हैं।''[1] इन सभी नाटककारों के नाटकों में सम्पूर्ण युग अपनी विकृतियों एवं विसंगतियों के साथ चित्रित हुआ है।

समकालीन महिला नाटककारों द्वारा रचित नाटकों में अभिव्यक्त युग-चेतना का स्वरूप अत्यन्त व्यापक है। समकालीन महिला नाटककारों ने समाज की परिस्थितियों को अपनी सूक्ष्म दृष्टि से देखा है इसलिए उनके नाटकों में सामाजिक चेतना गम्भीर एवं यथार्थ रूप में अभिव्यक्त हुई है।

समाज का एक प्रमुख भाग नारी है। अतः समकालीन महिला नाटककारों ने नारी के शोषण तथा नारी जीवन की विडम्बनाओं को अपने नाटकों में चित्रित किया है। इनके द्वारा रचित नाटकों में नारी के दो प्रमुख रूप देखने को मिलते हैं-पहला रूप वह है, जिसमें नारी घुटन, तनाव एवं निराशा की स्थिति को सहन करते हुए परिवार में समायोजन स्थापित करने की कोशिश करती है। नारी के इस रूप के दर्शन त्रिपुरारि शर्मा कृत 'बहू' नाटक में होते हैं। इस नाटक में सामन्ती संस्कारों से युक्त ग्रामीण समाज की एक विधवा युवती की पारिवारिक स्थिति का मार्मिक चित्रण किया गया है। वह ''चौबीसों घंटों बैल की तरह जुती रहती है, नितान्त अकेली, शायद ही कभी किसी चीज़ में हिस्सा लेती हो, लगातार ऊपर उठती है और वे सारे अधिकार पाने के लिए संघर्ष करती है, जिनसे उसे वंचित कर दिया गया है और अपने में ही सिमट रहने के लिए विवश भी।''[2]

इसी संदर्भ में गिरीश रस्तोगी द्वारा रचित 'अपने हाथ बिकानी' नाटक भी महत्त्वपूर्ण है। इस नाटक की प्रमुख पात्र बिन्दु है, जो विवाह के पश्चात् महिलाओं पर होने वाले अन्याय एवं अत्याचार पर शोध कर रही है। उसका मानना है कि पुरुष ने स्त्री को स्वतन्त्र रूप से जीने का अधिकार नहीं दिया है-''हमारे यहाँ महिलाओं को दूसरे स्तर का प्राणी समझा जाता है- दो-चार दरजे की चीज़ें। उन पर पहले से किए फ़ैसले थोपे जाते हैं। हर वर्ग, हर क्षेत्र, हर उम्र में।''[3]

समकालीन नाटकों में चित्रित नारी का दूसरा रूप वह है, जिसमें नारी पारम्परिक रूढ़ियों में बँधी हुई नहीं है वरन् वह पुरुष की सहचरी बनना चाहती है। यदि उसे पुरुष से इस स्थान की प्राप्ति नहीं होती तो वह विद्रोही रूप धारण कर लेती है। मन्नू भण्डारी कृत 'बिना दीवारों के घर' की शोभा इसी प्रकार की नारी है, जो घर की चारदीवारी के बाहर भी अपनी पहचान बनाना चाहती है। वह नौकरी करने के कारण आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर तो हो चुकी है लेकिन उसे अनुभव होता है कि वह अपनी धुरी से उखड़ चुकी है- ''जितना-जितना वह ऊपर से बढ़ती जा रही है, भीतर से उतनी ही उसकी जड़ें कटती जा रही हैं और अपनी धरती से वह उखड़ती जा रही है।''[4] शोभा ने घर की चारदीवारी के बाहर निकलकर अपनी पहचान तो बना ली लेकिन उसका परिवार टूट जाता है। इस प्रकार इस नाटक में एकाकी परिवार की टूटन के स्तर पर सामाजिक चेतना को अभिव्यक्त किया गया है।

सामाजिक चेतना की दृष्टि से मीरा कान्त द्वारा रचित 'नेपथ्य राग' नाटक भी महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इसमें खना का विदुषी होना विक्रमादित्य के नवरत्नों को खटकता है क्योंकि पुरुष को वैचारिक अभिव्यक्ति से रहित स्त्री ही स्वीकार्य है। वे नवरत्न खाना को 'जिह्वाविहीन' नवरत्न के रूप में स्वीकार करते हैं। इस प्रकार पुरुष स्त्री को मंच पर आने की सुविधा नहीं देता है, उसे नेपथ्य में ही रहने को विवश करता है- ''मंच

तक पहुँचने में युग बीत जाएँगे।....हज़ारों साल पहले भी किसी औरत को औरत होने की कीमत चुकानी पड़ी थी....वह युग क्या कभी आएगा....जब आषाढ़ और श्रावण के मेघ बरसेंगे.. ..जब नेपथ्य....नेपथ्य नहीं रहेगा।''[5]

राजनीति भी समाज का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है। कोई भी नाटककार राजनीतिक परिस्थितियों के प्रभाव से स्वयं को असम्पृक्त नहीं रख सकता। समकालीन महिला नाटककारों की पैनी दृष्टि ने भी युगीन राजनीतिक चेतना को बारीकी से देखा है। इनका ध्यान राजनीति की विसंगतियों तथा उससे उत्पन्न होने वाली स्थितियों की ओर भी गया है।

इस सन्दर्भ में कुसुम कुमार कृत 'सुनो शेफ़ाली' नाटक महत्त्वपूर्ण है। इस नाटक में सत्ता के भ्रष्टाचार और व्यवस्था के विरुद्ध अकेली नारी के संघर्ष को चित्रित किया गया है। शेफ़ाली सुशिक्षित दलित युवती है। वह बकुल नामक ब्राह्मण युवक से प्रेम करती है। बकुल के पिता दोनों का विवाह करवाकर चुनाव में दलित वर्ग के वोट पाना चाहते हैं-''बहनों और भाइयों....अपना वोट हमें देकर अपना भविष्य उज्ज्वल बनाइए....यह बात आपसे आज यहाँ इस जीप में मौजूद एक हरिजन लड़की कह रही है। इस लड़की को मैं आज ही अभी-अभी ब्याहकर ला रहा हूँ।....गरीबी का हटाया जाना इस देश के लिए जितना आवश्यक है, उतना ही हरिजनों का उद्धार भी।''[6] इस प्रकार इस नाटक में नेताओं के छद्म रूप और हर स्थिति का लाभ उठाने की प्रवृत्ति का चित्रण किया गया है, जो राजनीतिक चेतना को अभिव्यक्त करता है।

राजनीतिक चेतना की दृष्टि से सरोज बिसारिया द्वारा रचित 'अकथ कहानी प्रेम की' नाटक भी महत्त्वपूर्ण है। इस नाटक में चित्रित है कि 13वीं शताब्दी की पुष्पावती नगरी के राजा गोविन्द चन्द्र की राज्य-व्यवस्था वर्ण-व्यवस्था पर आधारित है। नाटक का नायक माधव मनुष्य बनकर जीना चाहता है। माधव के वर्ण-व्यवस्था पर कुठाराघात को राज्य-व्यवस्था उचित नहीं समझती। उस पर अभियोग चलता है। माधव का मित्र किसी प्रकार अभियोग से बचाकर उसे मुक्त कराता है लेकिन माधव अपनी जन्मभूमि को छोड़कर चला जाता है। वह कहता है-''क्या राजनीति ही सब कुछ है ....मनुष्य कुछ भी नहीं। प्रेम पर भी राज्याधिकार....परम्परा में जन्में मनुष्य को परम्परा में ही मरना होगा।''[7] इस प्रकार इस नाटक में राजनीतिक चेतना अभिव्यक्त हुई है।

समसामयिक राजनीतिक चेतना को अभिव्यक्त करने वाले नाटकों में मीरा कान्त द्वारा रचित 'काली बर्फ़' नाटक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इस नाटक में कश्मीर की समसामयिक समस्याओं के यथार्थ का तथा कश्मीर के विस्थापित परिवारों का चित्रण किया गया है। ये परिवार आतंकवाद के कारण उत्पन्न होने वाली स्थितियों की वजह से अपनी जड़ों से उखड़ गए हैं। उनके मन में कश्मीर वापस लौटने की उम्मीद है। एक कश्मीरी परिवार वहाँ की स्थितियों के कारण आतंक की छाया में रहता है और बाद में वह विस्थापित होकर दिल्ली आकर रहने लगता है लेकिन उन्हें हमेशा अपनी मातृभूमि लौटने की आशा बनी रहती है। इस नाटक में दोनों देशों की हुकूमत पर रोष व्यक्त किया गया है कि दोनों देशों के नेता विचार-विमर्श करके किसी प्रकार कश्मीर की ज़मीन का समाधान निकाल लेंगे लेकिन ''बातों के अलावा क्या करते हैं....क्या किया है आज तक उन्होंने ? मेरे ख़्याल में वो सारी कोशिशें नामर्दों की कोशिशें हैं जो सिर्फ़ बातें करते रहेंगे....बातें....बस उनकी बातें सुनो....बातें खाओ....बातें ओढ़ो और खुश रहो....क्योंकि कोशिशें तो हो ही रही हैं।''[8] इस प्रकार इस नाटक में सरकार की नीति पर करारा प्रहार करके राजनीतिक चेतना को अभिव्यक्त किया गया है।

समकालीन नाटकों में मनुष्य जीवन के आर्थिक पहलू का चित्रण भी हुआ है। हिन्दी नाट्य-साहित्य में आर्थिक चेतना से सम्बन्धित नाटकों की संख्या कम ही है। अधिकांश महिला नाटककारों ने सामाजिक चेतना के सन्दर्भ में ही आर्थिक चेतना पर विचार किया है।

आर्थिक चेतना की दृष्टि से मृदुला गर्ग द्वारा रचित 'जादू का कालीन' नाटक विशेष महत्त्वपूर्ण है। इस नाटक में राजनेताओं, अफ़सरों, पूँजीपतियों, व्यापारियों आदि की भ्रष्ट मानसिकता के कारण आर्थिक क्षेत्र में व्याप्त भ्रष्टाचार की तीखी भर्त्सना की गई है। इस नाटक में बाल-मजदूरों की दुर्दशा, उनके पुनर्वास, भ्रष्टाचार तथा स्वयंसेवी संस्थाओं से जुड़े हुए लोगों के ढोंग को चित्रित किया गया है। इस नाटक में चित्रित अनेक स्थितियाँ आर्थिक चेतना को वाणी प्रदान करती हैं-''मिल जाएगी। नाप-जोख होगी। हिसाब लगेगा। बिल पास होगा तभी न पैसा आएगा। तीन हफ्ते क्यों तीन महीने भी लग सकते हैं।''[9]

इसी कड़ी में मृणाल पाण्डे कृत 'मौजूदा हालात को देखते हुए' नाटक आर्थिक चेतना की सशक्त अभिव्यक्ति करता है। इसमें चित्रित है कि जनसामान्य कतिपय समरथों और उनके शोहदों के चक्रव्यूह में फँसकर विवशता एवं निर्धनता में अपना जीवन व्यतीत कर रहा है। सरकारी अधिकारियों की स्थिति देखिए-''अपने यहाँ कहावत है कि आला अफ़सर भैंस बराबर। उन्हें चारा-पानी मिलते रहना चाहिए बस। वे गुर्राते हुए किसी भी खूंटे से बँध जाएँगे।''[10] आम जनता जीवन के अभावों, महँगाई एवं अधिकारियों की रिश्वतखोरी से त्रस्त है। आम जनता की ये समस्याएँ आर्थिक

चेतना को अभिव्यक्त करती हैं।

भ्रष्टाचार एवं रिश्वतखोरी के चंगुल से शिक्षा का पवित्र क्षेत्र भी बच नहीं पाया है। आज शिक्षा के क्षेत्र में भी व्यावसायिकता का साम्राज्य हो गया है। शीला भाटिया कृत 'दर्द आएगा दबे पाँव' नाटक में वर्तमान शिक्षा-व्यवस्था में आई व्यावसायिकता को अभिव्यक्त किया गया है-''तू भी स्कूल खोल। इल्म पढ़ा। फ़ीस लगा। दौलत कमा। फ़ीस ही फ़ीस। पढ़ाई के बीस। बीस के तीस। यूनिफ़ार्म के चालीस। खेलों के अलग। वैरायटी प्रोग्राम के अलग। पिकनिक के अलग। लोगों के चीखने पर न जा। दौलत कमा। और स्कूल खोल। और दौलत कमा।''[11]

कुसुम कुमार द्वारा रचित 'दिल्ली ऊँचा सुनती है' नाटक में भी मध्य वर्ग के आर्थिक अभावों, रिश्वतखोरी आदि का चित्रण किया गया है। नाटक का नायक माधो सिंह वित्त मंत्रालय में क्लर्क की नौकरी करने के बाद सेवानिवृत्त होकर आर्थिक अभाव के कारण अपने पैतृक गाँव में रहने लगता है। लम्बी प्रतीक्षा के बाद भी पेंशन न आने के कारण वह दफ़्तर जाता है तब पता चलता है कि सरकारी काग़ज़ों में भूल से उसे मृत दिखाने के कारण पेंशन नहीं आ रही। उसे स्वयं को जीवित सिद्ध करने के लिए प्रमाण-पत्र की आवश्यकता है लेकिन हर जगह रिश्वत के बिना कोई काम नहीं होता। आर्थिक स्थिति दयनीय होने के कारण रिश्वत देने के लिए उसके पास पैसे भी नहीं हैं। वह कहता है-''सब तरफ़ दलदल है.....आजकल के इस दलदल में पड़े आम आदमी के लिए तो साँस लेना भी मुश्किल है।''[12] इस कथन से मध्यवर्गीय परिवार का आर्थिक अभाव अभिव्यक्त होता है।

हिन्दी-नाट्य-साहित्य पर समय-समय पर विभिन्न प्रभाव पड़ते रहे हैं। हिन्दी-नाटकों पर मनोविज्ञान का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव निश्चित रूप से पड़ा है। आज अवसाद, निराशा, घुटन आदि का वातावरण सम्पूर्ण देश में व्याप्त है। अतः हिन्दी-नाटकों में भी मनोवैज्ञानिक चेतना का महत्त्व बढ़ता जा रहा है। समकालीन महिला नाटककारों के नाटकों में भी मनोवैज्ञानिक चेतना की सशक्त अभिव्यक्ति हुई है।

मनोवैज्ञानिक चेतना की दृष्टि से कंचनलता सब्बरवाल द्वारा रचित 'भीगी पलकें' नाटक महत्त्वपूर्ण है। इस नाटक में मानव मन में द्वेष उत्पन्न होने की मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया का दुष्परिणाम चित्रित है। इस नाटक में पराशर के अहंभाव को चोट पहुँचती है, जब वह देखता है कि सुलभा उसकी अपेक्षा कपिल से प्रेम करती है। पराशर का अहंकार सम्पूर्ण समाज की सुख-शान्ति भंग कर देता है लेकिन वह असन्तुष्ट ही रहता है। तब सुलभा कहती है-''आज हर्ष का स्थान वेदना ने और आनन्द का स्थान निराशा ने ले लिया है। यही है हमारी नवीन व्यवस्था का नया विश्व।''[13] सम्पूर्ण समाज को पीड़ा पहुँचाकर भी पराशर सुलभा के मन में अपने प्रति प्रेम उत्पन्न नहीं कर पाता। इस प्रकार इस नाटक में पराशर की कामभावना से प्रेरित अहं की प्रवृत्ति का चित्रण हुआ है।

विमला रैना कृत 'न्याय' नाटक भी मनोवैज्ञानिक चेतना की अभिव्यक्ति करता है। इसमें चित्रित है कि माता-पिता की अकेली सन्तान होने के बावजूद सुधा सन्तुष्ट नहीं है। उसे माता-पिता का स्नेह सच्चा नहीं लगता। माता-पिता के आदर्श उसे झूठ लगते हैं। धीरे-धीरे उसका स्वभाव विद्रोही हो जाता है-''मैं सुखी नहीं हूँ, क्यों ? शायद इसलिए कि उनकी महानता को मेरी कोई आवश्यकता नहीं। उस महानता से मुझे डाह है, जिसने आदर्शों के आगे मुझे एक व्यर्थ की वस्तु बना दिया।''[14] समकालीन नाटककारों में मीरा कान्त मनोवैज्ञानिक चेतना को अभिव्यक्त करने की दृष्टि से सफल नाटककार हैं। उनके द्वारा रचित 'ईहा मृग' नाटक में चित्रित है कि नायिका स्नेहगंधा के जीवन में दो-तीन पुरुष विकल्प के रूप में आते हैं लेकिन उसके मन में द्वन्द्व चलता रहता है। उसकी ईहा (इच्छा) पूरी नहीं हो पाती और यदि होती भी है तो उस रूप में नहीं, जिसकी उसे अभिलाषा थी। वह कुमारिल से कहती है-''प्रेम करने वाले नारी-मन के अन्तर्द्वन्द्व और वेदना को तुम नहीं समझ सकते शिल्पी।''[15] इस प्रकार स्नेहगंधा के अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण करके नाटककार ने मनोवैज्ञानिक चेतना को अभिव्यक्त किया है।

समकालीन महिला नाटककारों के नाटकों में धर्म तथा दर्शन की वर्तमान स्थिति का चित्रण किया गया है। इनका प्रमुख उद्देश्य सभी धर्मों की मूलभूत एकता को प्रतिपादित करना रहा है। इस दृष्टि से कुसुम कुमार का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनके नाटक 'रावणलीला' में रामायण की कथा के माध्यम से रामलीला में अभिनय करने वाले कलाकारों के द्वारा धार्मिक चेतना की अभिव्यक्ति की गई है। इस नाटक में आधुनिक युग में खण्डित होते धार्मिक विश्वासों का चित्रण किया गया है-''श्रद्धा नाम की चीज़ ही नहीं है लोगों में। दो महीने से घर-घर, दुकान-दुकान जाकर चन्दे के लिए झोली पसारता हूँ तक कहीं टंगते हैं दस दिन के लिए ये परदे।''[16] समकालीन महिला नाटककारों द्वारा रचित नाट्य साहित्य पर भारतीय दर्शन का प्रभाव भी दिखाई पड़ता है। इन नाटककारों ने ब्रह्म, जगत आदि की विवेचना करते हुए दार्शनिक चेतना की अभिव्यक्ति की है। कंचनलता सब्बरवाल के नाटक 'भीगी पलकें' में वेद तथा उपनिषद के आधार पर ब्रह्म की व्याख्या की गई है। इस नाटक में शतपर्ण मुनि परमपिता परमात्मा की अद्वैत स्थिति का वर्णन करते हैं-''यह सृष्टि और इसका स्वामी

सब एक ही तो है। इसकी सिद्धि ही उसकी सिद्धि है और उसकी सिद्धि ही इसकी सिद्धि है। ये सब देव, जिनकी हम प्रतिदिन स्तुति और उपासना करते हैं, क्या हैं ? वे परम पिता के ही तो विभिन्न रूप हैं, सूर्य उसके नेत्र हैं, वायु उसका श्वाँस है।''[17]

सार रूप में कहा जा सकता है कि समकालीन महिला नाटककारों के नाटकों में युगीन चेतना की सशक्त अभिव्यक्ति हुई है। समकालीन युग-चेतना के विभिन्न पहलुओं की दृष्टि से इनके नाटकों का विशेष महत्त्व है। युगीन चेतना की दृष्टि से हिन्दी-नाट्य-साहित्य को समृद्ध करने में समकालीन महिला नाटककारों का योगदान उल्लेखनीय है।

सन्दर्भ-

1. डॉ. भगवान जाधव, हिन्दी महिला नाटककार, पृ. 35
2. त्रिपुरारि शर्मा, बहू/अक्स पहेली, प्रस्तावना से
3. गिरीश रस्तोगी, अपने हाथ बिकानी, पृ. 21-22
4. मन्नू भण्डारी, बिना दीवारों के घर, पृ. 47
5. मीरा कान्त, नेपथ्य राग, पृ. 62
6. कुसुम कुमार, सुनो शेफ़ाली, पृ. 86
7. सरोज बिसारिया, अकथ कहानी प्रेम की, पृ. 65
8. मीरा कान्त, कन्धे पर बैठा था शाप, काली बर्फ़, पृ. 133
9. मृदुला गर्ग, जादू का कालीन, पृ. 60
10. मृणाल पाण्डे, मौजूदा हालात को देखते हुए, पृ. 61
11. शीला भाटिया, दर्द आएगा दबे पाँव, पृ. 30
12. कुसुम कुमार, छह मंच नाटक, पृ. 200
13. कंचनलता सब्बरवाल, भीगी पलकें, पृ. 56
14. विमला रैना, न्याय, पृ. 31
15. मीरा कान्त, ईहा मृग, पृ. 84
16. कुसुम कुमार, रावणलीला, पृ. 31
17. कंचनलता सब्बरवाल, भीगी पलकें, पृ. 6-7

असिस्टेंट प्रोफ़ेसर, हिन्दी विभाग, कला संकाय, दयालबाग एजुकेशनल इन्स्टीट्यूट(डीम्ड विश्वविद्यालय) दयालबाग, आगरा
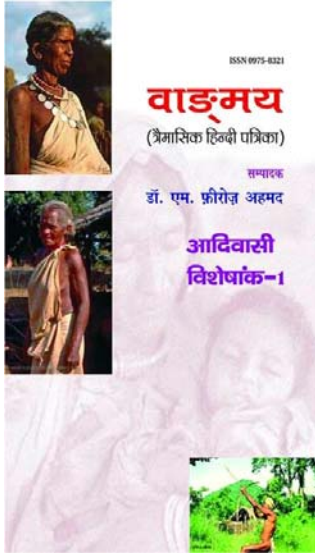
अकविता के संदर्भ में जगदीश चतुर्वेदी का काव्य

दलबीर सिंह

अकविता में 'अ' का अर्थ 'नहीं' से नहीं है। प्रायः यह समझा जाता है कि 'अकविता' का अर्थ है - 'वह कविता जो नहीं है।' 'अ' प्रत्यय का प्रयोग शब्द में कहीं चरम की परिणति के रूप में तो कहीं विपर्य के रूप में लिया जाता है। यहाँ 'अ' का अर्थ विपरीत के रूप में लिया गया। यानी अकविता का अर्थ है - विपरीत कविता। अकविता के पहले तक साहित्य में कविता के जो गुण माने जाते थे। उन्हें अकवियों ने नहीं माना। खासतौर पर जो एक शील की, भद्रता की लिजलिजी कविता चलती थी उसे अब अस्वीकृत कर दिया गया और पहले की कविता की तरह मात्र कल्पना की बात न कर, आदमी के जीवन की, उसके यथार्थ जगत की कविता की गयी। यही अकविता है। इसमें कुछ ऐसे शब्द आये जो ऐसे लगे कि मानों बौखलाहट में लिखे गये हों। परन्तु ऐसा नहीं है कि पूरी की पूरी एक पीढ़ी ही पागल हो जाये। उस समय की परिस्थितियों व उनके अनुसार बना मानस ही ऐसा था, जिसने परम्परागत कविता के विपरीत कविता लिखने को प्रेरित किया।

हिन्दी कविता को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रतिष्ठा दिलवाने में अकविता का बहुत बड़ा हाथ है। अलगाव तथा अस्तित्व के संकट की जो शुरुआत नयी कविता ने की थी, उसे अकविता ने चरम सीमा तक पहुँचा दिया। नई कविता के बाद की कविता को नया तेवर देने में जगदीश चतुर्वेदी का बहुत बड़ा हाथ है। तथाकथित जनवादी कवियों की कविताओं में मार्क्सवाद के सिद्धान्त भले ही ढूंढ लिये जायें, भले ही व्यवस्था विरोध के नाम पर नारे, ताने और गालियाँ मिल जायें, उनमें कविताओं का वो ताप नहीं है, जो जगदीश चतुर्वेदी की कविताओं में है। समकालीन परिवेश के आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक व अन्तर्राष्ट्रीय कुचक्रों से व्यक्ति सदैव ही प्रभावित होता है। स्वतन्त्रता के बाद स्थापित स्वराज की सुन्दर कल्पना जब साकार नहीं हुई, उल्टे राजनीति का एक अजीब, घृणित रूप जनता के सामने आया तो उसका मोहभंग हो गया। सन् 1962 का चीनी आक्रमण शान्ति के समस्त प्रयासों को तहस-नहस कर गया। यह कोई साधारण बात नहीं थी। राजनीतिज्ञों के हौंसले इससे पस्त हो गये। यहीं से राजनीतिक अनिश्चितता का और आर्थिक अस्थिरता का दौर शुरू होता है। समाजवाद का रहा सहा ढोंग भी खत्म हो गया, भारतीय संस्कृति और परम्परा मज़ाक का केन्द्र बन गयी। यहीं से कविता का एक नया दौर शुरू होता है, जिसे बाद में 'अकविता' या 'एन्टी पोयट्री' कहा गया।

अकविता आन्दोलन के दौर में जो कवि लिख रहे थे, उनमें से बड़ी संख्या में वे ही कवि सक्षम् रहे जो अकविता आन्दोलन से जुड़े थे। जगदीश चतुर्वेदी के साथ-साथ कुमार विकल, धूमिल, चन्द्रकान्त देवताले, विमल, श्याम परमार, राजकमल चौधरी, मुद्राराक्षस, रमेश गौड़ आदि के नाम इस संदर्भ में लिये जा सकते हैं।

जगदीश चतुर्वेदी का काव्य संग्रह 'विजप' (1967), 'इतिहासहन्ता' (1970) एवं 'डूबते इतिहास का गवाह' (1980) की अधिसंख्यक कविताएँ अकविता आन्दोलन से संबंधित रही हैं। स्वातन्त्र्योत्तर काल में राजनेताओं की असफलता और भ्रष्ट आचरण के कारण होने वाले मोहभंग ने छठे दशक के अधिकांश कवियों को राजनीति को अस्वीकार करने एवं उससे घृणा करने के लिए प्रेरित किया। जगदीश चतुर्वेदी में राजनीति के प्रति अस्वीकार और घृणा का भाव प्रबल है। अकविता आन्दोलन की भूमिका में उन्होंने बिना किसी लागलपेट के घोषणा की- ''राजनीतिक विचारों पर काव्य रचने का जमाना लद चुका, समाज का द्रष्टा कवि आज मानवीय चेतना के बौद्धिक स्तरों को प्रतिभासित कर रहा है। यह कहने में मुझे कोई अड़चन नहीं कि किसी भी कुंठित या ग्रस्त राजनैतिक विचारधारा में हमारा विश्वास नहीं है।''[1] उन्होंने अपनी एक कविता 'एक लँगड़े आदमी का ब्यान' में लिखा है कि -''देश एक लँगड़ाता वृद्ध मरीज ..... देश-प्रेम एक अय्याशी का/दिया हुआ महामंत्र। दुखती है कोई कनपटी की नस और/बाजुओं में रक्तपात की इच्छा पनपने लगती है एक पाखण्ड/का सिर फट जाता है और पैदा होते हैं असंख्य रीछ, पालतू/कुत्ते, चिमगादड़ और बन बिलाव। कोई नहीं है टूटते /आकाश के बीच साहस

के साथ खड़े रहने वाला सिपहलासार ...../सब हो गये हैं जनखे या तमाशबीन या मक्कार।''

राजनीति का यह अस्वीकार वास्तव में उसका अस्वीकार नहीं है बल्कि उसके दबाव को अत्यधिक अनुभव करना है और उसके साथ संघर्ष कर सकने की असमर्थता के कारण उसे अस्वीकार करके मुक्ति पाने का एक रास्ता है। यदि ऐसा नहीं होता तो कवि बार-बार उन कारणों की ओर क्यों संकेत करता, जिन्होंने देश को 'लंगड़ाता वृद्ध मरीज' बना दिया है। 'उग्रतारा के प्रेमी को' कविता में चतुर्वेदी जी ने लिखा है -''तमाम देश पर कोढ़ की तरह छाई हुई है चापलूसी/और व्याभिचार हम नहीं करते/वे करते हैं, जो अपने खून और कपाल को बेचते हैं/उन अधकचरे साहबों को/जिनके नथनों में मात्र मक्कारी भरी है।''

परम्परा को अस्वीकार करते हुए उन्होंने 'अकविता' के प्रवेशांक के संकेत में कहा कि आज का कवि परम्परागत रूढ़ियों तथा संस्कारों के प्रति विक्षुब्ध है और उसका काव्यात्मक संवेदन भी उसी अनुपात में परम्परा से मुक्त भी है और निस्संग भी। वह इन सभी कवियों से घृणा करता है। इस घृणा का और तीव्र रूप हमें इन पंक्तियों में दिखाई देता है-''कहीं सूर्य न दिख जाये/कहीं ज़िन्दा इन्सान की कातिल रूह मुझसे न टकरा जाये/मैं घृणा में सराबोर अंधेरी गुफाओं में भटकता रहा/दो पैरों के आदिम जानवर की बू/मुझे यहाँ खीच लाई थी।''

इस घृणा का एक अस्तित्ववादी आयाम है। इस अस्तित्ववादी आयाम में व्यक्ति अपने जीवन की निरर्थकता का बोध पाकर स्वयं से ही घृणा करने लगता है। उसे लगता है कि वह निरूद्देश्य जी रहा है और अनिश्चय की गुहा में पड़ा-पड़ा सड़ रहा है। उसका वर्तमान एक गहरी सुरंग में गुम हो गया है और भविष्य में मात्र मृत्यु-उसकी भी तिथि निश्चित नहीं है -''मैंने अपनी तमाम इच्छाओं को खोपड़ी से निकाल कर तलुओं में/दबा लिया है और किसी अनिश्चित तिथि की प्रतीक्षा में/बूढ़े सर्प-सा अपनी मृत्यु की बाट देख रहा हूँ।''

अतीत, वर्तमान और भविष्य तीनों से हताशा और विच्छिन्नता, कुंठा, एकाकीपन, ऊब, थकन, विवशता, एकरसता, अजनबीपन इत्यादि की मनोभावनाओं को स्वाभाविक रूप से जन्म देती है। 'प्रारम्भ' से लेकर 'डूबते इतिहास का गवाह' तक की कविताओं में ये भावनाएँ भरी पड़ी हैं। इनमें से कुछ उदाहरण दृष्टिगत है -''शाम होगी और हम/बाज़ारों में निकल जायेंगे/दोस्तों से मिलेंगे/और धीमें मुस्करायेंगे/ह्विस्की पियेंगे/और गप्पें लड़ायेंगे/पर/रात के अन्धेरे में/अकेलेपन के सर्प/हमें लील जायेंगे।''

इसी प्रकार एक स्थान पर कवि स्वयं अपने आपको और वर्तमान पीढ़ी को कमजोर आंकता है-''हम सब नपुंसक हैं/बीसवीं सदी की/कमजोर, नामर्द औलादें -/जिनके चेहरे हैं, पर जबान नहीं .../जबान नहीं !!''

इन भावनाओं के साथ जगदीश चतुर्वेदी में एक प्रबल मनोभावना है विक्षोभ और आक्रोश की। स्त्री को लेकर भी उनमें कम आक्रोश नहीं है। स्त्री को लेकर वे घृणा और आक्रामकता से भरे हुए हैं। सैक्स संबंधों को लेकर उनकी दृष्टि सहज नहीं है। नीचे उद्धृत पंक्तियाँ सेक्स के प्रति उनके असहज और विकृत दृष्टिकोण की द्योतक हैं -''एक नन्दी डकारा है पूरे वेग से और भाग गया है जंगल की ओर/ /शिवलिंगों की पूजा करते-करते गृहणियाँ नग्न हो गयी हैं/और अपने शरीर को चक्रवात-सा घूमने दे रही हैं/कठोर शिला के शीर्ष से सटाकर।''

यही कारण है कि जगदीश चतुर्वेदी की अकविता काल की कविताएँ सेक्स प्रतीकों से भरी पड़ी हैं। उनका विक्षोभ, आक्रोश और विद्रोह सेक्स के साथ-साथ जिज्ञासा के रूप में भी प्रायः अभिव्यक्ति पाता है -''मैं तमाम यात्राओं को दुर्घटना में बदलना चाहता हूँ।/मैं प्रेम करते युग्मों की आग के जलते कंटूरों पर बिठाकर/मांस गन्ध को चिरियाते देखना चाहता हूँ/मैं चाहता हूँ विनाश/इन कीड़ों से मानव पिण्डों के लिए मेरे मन में कोई दया नहीं।''

जगदीश चतुर्वेदी का यह आक्रोश और जिज्ञासा आवेगजनित है। जनतन्त्र का अस्वीकार, तानाशाही के साथ लगाव, नीत्से के संबंध में उनकी प्रतिक्रिया भी आवेगजनित है, चिन्तन जनित नहीं। उन्होंने लिखा है -''मुझे तानाशाही से लगाव है, जनतंत्र के रिरियाते गीदड़ से नहीं/मुझे वेश्यालयों में गन्दगी नज़र नहीं आती/गन्दगी छिपाव का दूसरा नाम है और मेरे आसपास/ऐसे षड्यंत्रकारियों का समूह है/मैंने एक कबूतर पाला है जो हमेशा नाचता रहता है,/एक काली बिल्ली को उसे सौंपकर मैं भयभीत/कातर आँखें देखना चाहता हूँ।''

यह आवेग कवि को कभी-कभी तोड़ता है और वह दयनीय हो उठता है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है -''मुझे प्रेम नहीं चाहिए, मुझे घर नहीं चाहिए, मुझे यश नहीं चाहिए/मुझे केवल अनिश्चित घड़ी में/अनायास पा गया एकान्त चाहिए और उसके पास मंडराता/एक बूढ़ा सर्प/मैं उस सर्प की खोह में रहना चाहता हूँ/और बॉबी के भुतहे एकान्त से जहर बटोरकर /तमाम देश के निर्वीर्य प्रकंपन में हलचल चाहता हूँ/मुझे पता नहीं मैं क्या चाहता हूँ ?''

इस प्रकार केवल प्रतीक्षा की बात करना और घोंघे की तरह अपनी खोल में बन्द रहकर कराहने की चर्चा करना भी कवि की टूटन को ही प्रमाणित करता है -''केवल प्रतीक्षा करना

मेरी नियति है और उसे भोगने के/लिए मैं प्रतिश्रुत हूँ, आज न मेरा कोई नाम है, न/कोई आदर्श मात्र घोंघे की तरह अपनी खोल में बन्द/मैं कराह रहा हूँ।''

दरअसल आवेग नशे की तरह होता है। जितना तीव्र आवेग होगा, टूटन भी उतनी ही अधिक होगी। जगदीश चतुर्वेदी का अकविता आवेग काव्य है। उनकी कविता में पंक्तियों का बहुत लम्बा होना इस आवेग के कारण ही हैं।

अकविता आन्दोलन के आगमन का कारण उन्होंने स्वयं अपने एक साक्षात्कार में दिये गये व्यक्तव्य से स्पष्ट होता है - ''एक ओर देश का संकट है, दूसरी ओर राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय घटनाचक्रों के बीच पिसती मानव नियति है। ऐसे में कवि की सजगता उसे इन घटनाचक्रों से जोड़ती है और एक प्रतिक्रियाजन्य विद्रोह उसकी धमनियों में कौंध उठता है, किन्तु समाज नामक तंत्र में उसकी सत्ता अत्यन्त नगण्य है। अतः वह विद्रोह के लिए प्रतिश्रुत हो उठता है। यह विद्रोह की भूमिका उसकी कृतियों में निषेधात्मक प्रवृत्तियों को रचनामूल्य के रूप में प्रतिष्ठापित करती है। यह निषेध ही आज के काव्य की आधुनिकता का पर्याय है। यों भी आधुनिकता का अर्थ मात्र फैशनपरस्ती या वितण्डावाद पैदा करना नहीं, बल्कि निष्पन्न स्थिति और मानव-नियति को एक स्वस्थ तथा समाज सापेक्ष जीवन की ओर ले जाना है।'' जगदीश चतुर्वेदी के इस कथन से यह स्पष्ट है कि वे समाज को अस्वीकार नहीं करते, बल्कि समसामयिक राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्थितियों में विवश व्यक्ति की स्वाभाविक निषेधात्मक प्रवृत्तियों को रेखांकित करते हैं। इसलिए यह अकविता आन्दोलन न तो समाजनिरपेक्ष है और न समाज विरोधी।

यह विषम परिस्थितियों में आस्था का डॉवाडोल हो जाना अवश्य है। आस्था की यह डगमगाहट केवल जगदीश चतुर्वेदी की ही नहीं, बल्कि अकविता आन्दोलन के सहयोगी कवियों का यथार्थ रहा है। इस निषेध को श्लाघनीय चीज़ मानकर नहीं, बल्कि एक पीढ़ी की अनिवार्य यथार्थ मानकर स्वीकार करना चाहिए। कहने की आवश्यकता नहीं है कि राजनेताओं ने पूँजीपतियों के साथ मिलकर जनसाधारण के साथ ऐसा विश्वासघात किया है कि सारा माहौल मूल्यहीनता, अराजकता और संदेहवादिता से भर उठा है। ऐसी स्थिति में कवि जन के साथ क्या घटित होता है इसे कुमार विकल की कविता 'एक छोटी-सी लड़ाई' में बड़ी ईमानदारी के साथ व्यक्त किया है -''अब तो हर आस्था गहरे संशय को जन्म देती है/और नया विश्वास अनेकों डर जगाता है।/संशय और छोटे-छोटे डरों के बीच जूझता मैं/जब कभी हताश हो जाता हूँ/तो न किसी शिविर की ओर दौड़ सकता हूँ/न ही किसी दस्तावेज में अर्थ भर पाता हूँ/अब तो अपने स्नायतन्त्र में छटपटाहट ले/इस व्यवस्था पर -/केवल एक क्रूर अहास कर सकता हूँ।''

इस प्रकार निषेध की प्रवृत्ति जगदीश चतुर्वेदी के सभी समकालीनों के काव्य में थोड़ी बहुत विद्यमान है, जो एक सीमा तक समसामयिक स्थितियों की प्रतिक्रिया है। जगदीश चतुर्वेदी के काव्य में यह औरों की अपेक्षा अधिक तीव्र एवं व्यापक हैं। अतः स्पष्ट है कि समाज का प्रतिबिम्ब समाज को ही कविता के आइने में दिखाना अकविता व अकवि का ध्येय रहा।

इतिहास के हनन के बाद आगे के लिए जिस चिन्तन को जगदीश चतुर्वेदी की धार पैना करती है वह न तो अकर्मण्य है और न पलायनवादी। वही सीधी-सादी लड़ाई, संघर्ष का कथ्य है -''लगता है/मैं जब तक इस धरती पर ज़िन्दा हूँ/चुप न बैठूगा/करूँगा कोलाहल/खोदूँगा पहाड़/और लडूँगा अनवरत एक न खत्म होने वाली लड़ाई/जो मेरे और मेरी शताब्दी के भविष्य के लिए ज़रूरी है/या शायद यह मेरी और युग की/सार्थक मजबूरी है।''

अतः यह कहने की आवश्यकता नहीं हैं कि आज की कविता को अकविता आन्दोलन से बहुत कुछ प्राप्त हुआ है और इस दशक के अनेक रचनात्मक प्रयत्नों में जगदीश चतुर्वेदी की भूमिका निस्सन्देह महत्त्वपूर्ण है।

सन्दर्भ-

1. (सं.) कमल किशोर गोयनका, जगदीश चतुर्वेदी विवादास्पद रचनाकार, पृ. 263
2. जगदीश चतुर्वेदी, डूबते इतिहास का गवाह, पृ. 294-95
3. जगदीश चतुर्वेदी, इतिहासहंता, पृ. 161
4. डूबते इतिहास का गवाह, पृ. 280
5. इतिहासहंता, पृ. 140
6. वही, पृ. 230
7. वही, पृ. 173
8. वही, प. 145
9. वही, पृ. 137
10. वही, पृ. 168
11. वही, पृ. 37-138
12. वही, पृ. 140
13. जगदीश चतुर्वेदी, संस्मरण, साक्षात्कार और परिचर्चा, पृ. 271
14. कुमार विकल, मुक्ति के दस्तावेज, पृ. 34-35
15. डूबते इतिहास का गवाह, पृ. 275

शोधार्थी, हिन्दी-विभाग, महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय,रोहतक

नारी–मानवाधिकार : सुशीला टाकभौरे की आत्मकथा

(संदर्भ–शिकंजे का दर्द)

वंदना शर्मा

आज के युग में प्रत्येक राष्ट्र के सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, धार्मिक, शैक्षिक, व्यावसायिक क्षेत्रों में नारी की उपस्थिति में वृद्धि हो रही है इसलिए नारी-मानवाधिकार की बात उठना स्वाभाविक ही है। विश्व के सभी समुदायों ने इसकी पुरजोर पैरवी भी की है। सदियों से पीड़ित, शोषित, प्रताड़ित, उपेक्षित होने के बावजूद महिलाओं की क्षमता और सामर्थ्य में कोई कमी नहीं आई है। राष्ट्र-निर्माण एवं राष्ट्र-विकास में वे पुरुषों के समान ही भागीदारी कर रही हैं। नारी-मानवाधिकार के बारे में चर्चा करने से पूर्व मानवाधिकारों के बारे में जानना आवश्यक है।

मानवाधिकारों से आशय ऐसे अधिकारों से है जो मनुष्य को मनुष्य होने के प्राप्त होने चाहिए। उसकी जाति, राष्ट्रीयता या किसी विशेष सामाजिक समूह की सदस्यता के आधार पर नहीं। ये अधिकार मानवीय गरिमा और उपयुक्त जीवन-स्तर की न्यूनतम शर्तों को व्यक्त करते हैं। समाज में रहते हुए कोई भी व्यक्ति या मनुष्य इन मूल अधिकारों के बिना न तो अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकता है और न ही समाज की प्रगति में अपना कोई योगदान दे सकता है।

हैराल्ड लॉस्की का कहना है- 'अधिकार मानव-जीवन की ऐसी परिस्थितियाँ हैं जिनके बिना सामान्यता कोई व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास नहीं कर सकता।'[1]

वास्तव में मानवाधिकारों का विकास ब्रिटेन में मैग्नाकार्टा (1215) के समय आंतरिक कानून के क्षेत्र से हुआ। परन्तु इसकी वास्तविक नींव 17वीं शताब्दी में हुए संवैधानिक कानून के विकास में देखने को मिलती है। मैग्नाकार्टा के आधार पर ही 1628 में 'अधिकारों का प्रार्थना पत्र' और बाद में 1688 में 'अधिकारों का घोषणा पत्र' पास किया गया। 18वीं शताब्दी में अमेरिका और फ्रांस की क्रान्ति को आधार बनाकर मानवाधिकारों को निर्मित किया गया। मानवाधिकारों को संयुक्त राष्ट्र संघ में सबसे पहले अंतर्राष्ट्रीय प्रयास के रूप में अभिव्यक्ति प्रदान की गई। 10 दिसम्बर 1948 को संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा में मानवाधिकारों की सार्वभौम घोषणा की गयी।

मानवाधिकारों के अन्तर्गत नारीवादी आंदोलन की उदारवादी विचारधारा भी समाहित है जो नारी-अधिकारवाद के अन्तर्गत ही है। आज स्त्री-विमर्श जैसा मुद्दा क्यों उठाया जा रहा है? इसका सीधा-सा उत्तर यही होगा कि सदियों से उपेक्षित एवं प्रताड़ित नारी आज अपने अधिकारों के प्रति जागरुक हो गई है। यही कारण है कि आज स्त्री-विमर्श पितृसत्तात्मक-व्यवस्था के आगे चुनौती बनकर खड़ा हो गया है। सीमोन द बोउवार, बैटी फरीडन, देरिदा, मेरी वोल्सटन क्राफ्ट आदि ने स्त्री-विमर्श जैसे विषयों को उठाकर विश्व के सामने एक नई बहस को प्रस्तुत किया। नारीवादी अधिकारवाद की बहस को प्रस्तुत किया। नारीवादी अधिकारवाद की एक अन्य विचारधारा मार्क्सवाद से जुड़ी है जिसके अनुसार महिलाओं के काम को निम्न स्तर का मना जाता है। इसलिए उनके कार्य का उचित मूल्यांकन नहीं हो पाता जबकि पुरुषों के समान कार्य करने के लिए उन्हें समान वेतन पाने का अधिकार है।

इस प्रकार नारी अधिकारवादी आंदोलन का इतिहास लगभग 200 वर्ष पुराना है। 18वीं सदी के उत्तरार्द्ध में अमेरिका में ब्रिटिश साम्राज्वाद विरोधी वातावरण में नारी अधिकारवादी आंदोलन प्रारंभ हुआ जो मुख्यतः फ्रांस की क्रान्ति से प्रेरित था। बाद में यह आंदोलन सुधारवादी आंदोलन का अंग बना। सम्पूर्ण विश्व की नारियों पर इस आंदोलन का गहरा प्रभाव पड़ा जिसके फलस्वरूप नारियाँ न केवल अपने अधिकारों के प्रति सचेत हुई बल्कि आंदोलनों में भाग लेने के साथ ही अपने अधिकारों की मांग भी करने लगी। 19वीं सदी में यूरोपीय नारी मुक्ति आंदोलन से सम्पूर्ण विश्व, विशेषकर दक्षिण एशिया प्रभावित हुआ। सामाजिक अर्द्धपतन, आर्थिक जर्जरता आदि के सर्वत्र प्रभाव के कारण ही 18वीं सदी में दक्षिण एशिया के समस्त राष्ट्रों के साथ-साथ भारत में भी नारियों की दशा दीन-हीन थी।

भारत में नारीवादी आंदोलन की शुरुआत का प्रयास 19वीं सदी के पूर्वार्द्ध से ब्रह्म समाज की स्थापना से माना जा

सकता है। राजा राम मोहन राय के प्रयासों का ही फल था, कि लार्ड विलियम बैंटिक ने सन् 1829 में सती-प्रथा को निषिद्ध किया। आर्य समाज, रामकृष्ण मिशन, थियोसोफिकल सोयायटी व अन्य सुधारवादी संगठनों के नेतृत्व में नारीवादी आंदोलन की उग्रता के फलस्वरूप 19वीं सदी में भारतीय नारियों को सम्पत्ति रखने का अधिकार, विधवा-विवाह, तलाक जैसे अधिकार मिले और बाल-विवाह, सती-प्रथा, पर्दा-प्रथा, अशिक्षा जैसी कुप्रथाओं को निषिद्ध किया गया।

वास्तव में 'भारत में नारीवादी आंदोलन का प्रारंभ पंडिता रमाबाई और सावित्रीबाई फुले द्वारा हुआ। दोनों ही उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में कर्मरत थीं। पंडिता रमाबाई ने स्त्रियों के अधिकारों के लिए संघर्ष किया, हिन्दू धर्म की रूढ़िवादिता पर आघात किया तथा उन्नीसवीं शताब्दी के आठवें दशक में स्त्रियों की स्वतंत्रता की बात की। उनका अपना जीवन पूर्णतः स्वाधीन था। सावित्रीबाई फुले ने स्त्री-शिक्षा के क्षेत्र में स्मरणीय कार्य किया।'[2] भारत में नारीवादी आन्दोलन होने से नारियों की दशा में काफी सुधार हुआ है। अब नारी पितृसत्तात्मक सामाजिक ढाँचे से बाहर निकालने का प्रयास कर रही है। उनके इसी प्रयास का छोटा-सा उदाहरण उनके द्वारा अपने जीवन के समग्र अनुभवों या यों कहें अपनी आप-बीती को एक छोटे से साँचें में ढाल कर उसे 'आत्मकथा' के रूप में पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करना है।

यह सच है कि एक समय था जब आत्मकथा पर केवल पुरुषों का ही अधिकार था। महिलाएँ आत्म-लेखन में प्रवृत्त नहीं थी। परन्तु आज 21वीं सदी में हम देखते हैं कि महिलाएँ किसी भी क्षेत्र में पीछे नहीं हैं। यही कारण है कि आज महिला साहित्यकार आत्म-लेखन में प्रवृत्त होकर अपने जीवन के यथार्थ को आत्मकथा के माध्यम से प्रस्तुत कर रही हैं। इसी संदर्भ में मैं सुशीला टाकभौरे जी का नाम लेना चाहूँगी जिसने अपनी शिकंजे में जकड़ी त्रासद ज़िन्दगी के अनुभवों के साथ-साथ अपने आपको उस शिकंजे से मुक्त करवाकर एक नई सफल ज़िन्दगी का पिटारा समाज के सामने अपनी आत्मकथा 'शिकंजे का दर्द' के माध्यम से खोला है। अपनी भोगी हुई ज़िन्दगी के अनुभवों को यथार्थ रूप से समाज के सामने लाकर इन्होंने साहस व चनौती का कार्य किया है।

भंगी समाज में जन्मी सुशीला जी अपने जीवन में प्रारम्भ से लेकर अन्त तक अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिए संघर्षरत है। एक स्त्री यदि वह दलित है तो उसका शोषण और अधिकारों की प्राप्ति के लिए किया जाने वाला संघर्ष दोहरा हो जाता है- पहला, अपनी जाति के कारण और दूसरा स्त्री होने के कारण। लेखिका के मन में हिन्दू धर्म को लेकर आक्रोश है जो छुआछूत को बढ़ावा देता है। वह अपना आक्रोश इन शब्दों में व्यक्त करती है- 'हिन्दू धर्म के आडम्बर में मिट्टी से बने पुतलों को भी भगवान की तरह पूजा जाता है मगर इन्सानों को इन्सान नहीं मानते। यह हिन्दू धर्म की विडम्बना है, हिन्दू संस्कृति का कलंक है। लोग इसे ही धर्म कहते हैं।'[3] लेखिका दलित समाज की मुक्ति केवल डॉ. अम्बेडकर की विचारधारा से जुड़कर ही मानती है। 'डॉ. अम्बेडकर ने धर्म का सहारा लेकर लोगों के उत्पीड़न और मानवाधिकार हनन को चुनौती दी। उनका कहना था-धर्म लोगों के लिए है न कि लोग धर्म के लिए। यदि धर्म लोगों की मुक्ति का रास्ता नहीं बनता, तो ऐसे धर्म का क्या फायदा। क्या हमारी धार्मिक पुस्तकें और रीति-रिवाज मनुष्य की सभ्यता व आवश्यकताओं को अनुसार नहीं बदल सकते?'[4] लेखिका शिक्षा के महत्त्व को जानती है। यही कारण है कि जब उनके माता-पिता उन्हें कॉलेज जाने से मना करते हैं तो वह अनशन कर देती हैं जो उनके विद्रोही स्वभाव के दर्शाता है। अधिकांश महिला-साहित्यकारों का यह मानना है कि आर्थिक परावलम्बन के कारण ही नारी को पुरुष-सत्ता के अधीन रहना पड़ता है। इन साहित्यकारों ने शिक्षा को नारी का सबसे सशक्त हथियार माना है। पद्मा सचदेव का मानना है कि 'स्त्री वास्तविक मुक्ति तो तभी है जब स्त्रियाँ आत्मनिर्भर हो, शिक्षित हो और नालायक पति के आसरे पर न रहें। विकल्पहीनता की स्थिति नारी के लिए अत्यन्त दुःखद है। स्त्री की नियति का निर्धारण पुरुष द्वारा ही समाज में होता है। अगर योग्य पति मिला तब तो ठीक, नहीं तो स्त्री यातना के सागर में अपादमस्तक डूब जाती हैं। जब तक यह विवशता रहेगी स्त्री स्वतंत्र कभी नहीं हो सकती।'[5]

लेखिका के वैवाहिक जीवन की बात करें तो उनका अनमेल विवाह ही देखने को मिलता है जो स्त्री के मानवाधिकारों के हनन का ही एक रूप है। लेखिका भी भारतीय संस्कारों के अधीन होकर माता-पिता की पसंद को ही अपनी पसंद बना लेती है। 'हिन्दू धर्मग्रन्थ मनुस्मृति में निर्देश है लड़की की उम्र से तीन गुना बड़ी उम्र के पति से विवाह किया जा सकता है। यदि लड़की सात साल की हो तो इक्कीस वर्ष के पति से, लड़की दस साल की हो तो तीस साल के पति से विवाह हो सकता है। हिन्दू धर्म इसे अनमेल विवाह नहीं कहता बल्कि इसे प्रोत्साहन देता है। लोग धर्म के नाम पर अक्सर चुप रह जाते हैं। स्त्रियाँ यह सन्ताप चुपचाप भोगती हैं। बचपन में निर्बल-अबला के साँचे में ....मानसिकता के कारण वे इस अन्याय का विरोध नहीं कर पाती। मैं भी इसी तरह कमजोर थी।'[6]

लेखिका के जीवन-साथी को लेकर मन में सजाए सुनहरे

सपने उस दिन तार-तार हो जाते हैं जब ससुराल आकर पति का सामंती रूप सामने आता है। ससुराल में उसे अपमानित करने का कोई मौका नहीं छोड़ा जाता। पति पत्नी के अधिकारों का हर प्रकार से हनन करता है। वह उसे केवल एक दासी समझता है और लेखिका हर तरह के अत्याचार को एक बेजान गुड़िया बन सहती रहती है। एक स्त्री के लिए अपने अधिकारों की लड़ाई लड़ना आसान नहीं है। इसलिए वह हर तरह के अत्याचार, अन्याय व शोषण को जब तक सह सकती है, सहती है पर उनकी अति होने पर वह निडर होकर इनका सामना करना भी जानती है। लेखिका भी काफी देर बाद समझती है कि अपने अधिकार केवल लड़कर ही प्राप्त हो सकते हैं। यह बात समझ आते ही वह (सुशीला जी) पुरुष-सत्ता से अर्थात् अपने पति की गुलामी से स्वतन्त्र होने के लिए संघर्ष करने लगती है। 'अधिकार कभी भी भिक्षावृत्ति से न मिले हैं न मिलेगें। अपने स्वत्व, अधिकारों को वह खुद ही अर्जित कर लेगी। उसके भीतर असीम संभावनाएँ हैं। परिस्थितियाँ उसके पूरी तरह से विरुद्ध हैं। वह ऐसे दरिया में तैर रही है जहाँ लहरों का बहाव उसके मंतव्य के पूर्णतया विपरीत है, लेकिन फिर भी वह उन अवरोधक लहरों को चीरती हुई अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर है।'[7]

लेखिक के अधिकारों के हनन का कारण जहाँ एक ओर पितृसत्तात्मक व्यवस्था रही है, वहीं दूसरी ओर जाति-व्यवस्था भी इनके अधिकारों के हनन का कारण बनती है। दलित-महिला होने के कारण इनका संघर्ष केवल पुरुष-सत्ता से ही नहीं बल्कि जाति-व्यवस्था से भी समानान्तर रूप से चलता रहता है। स्कूल से कॉलेज में प्राध्यापिका बनने के बाद भी जाति-व्यवस्था का शाप उनका पीछा नहीं छोड़ता। एक दलित महिला का इतने ऊँचे ओहदे पर पहुँचना भी समाज के लिए कोई मायने नहीं रखता। जाति-व्यवस्था का डंक उन्हें समय-समय पर डसता ही रहा है। समाज सुशिक्षित लेखिका को केवल दलित होने के कारण अपनाने से इन्कार कर देता है। उन्हें सुशिक्षित प्राध्यापिका के रूप में नहीं बल्कि एक दलित महिला के रूप में पहचानता है। यहाँ तक कि लेखिका के साथी-प्राध्यापक भी उनके साथ अमानवीय व्यवहार करते हैं। विद्यार्थियों को मानवाधिकारों तथा उनकी रक्षा का पाठ पढ़ाने वाले अध्यापक स्वयं ही अधिकारों के हननकर्ता के रूप में नज़र आते हैं। इतना ही नहीं लेखिका की अपनी ही दलित-जाति का सफाई कर्मचारी भी उनसे जातिगत भेदभाव करता है। दलित का दलित के प्रति ऐसा व्यवहार लेखिका को मानसिक आघात देता है- 'दुश्मनी की लड़ाई दुश्मनों के साथ ठीक है। मगर जब अपना ही कोई व्यक्ति दुश्मनों के जैसा व्यवहार करने लगे तब गुस्सा भी आता है, अफसोस भी होता है कि वह प्रगति के विरुद्ध अधोगति के जाल में फंसा है।'[8] ऐसे लोगों की मानसिकता ही दलित-समाज की प्रगति में बाधक बनती है।

लेखिका क्योंकि एक स्त्री है, वो भी दलित! इसलिए उनका पुरुष सत्ता से व जाति-व्यवस्था से अपने मानवाधिकारों को प्राप्त करने का संघर्ष अन्त तक चलता है। वह इस दोहरे शोषण से घबराती नहीं है बल्कि रूढ़िगत परम्पराओं रूपी शिकंजे को तोड़कर बाहर भी आती है और अन्त तक अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिए संघर्षशील बनी रहती है। वह दलित समाज का उत्थान चाहती है जिसके लिए वह दलित आंदोलनों, नारी-जागरण जैसी गतिविधियों से सक्रिय रूप से जुड़ती है। 'पुरुष जहां स्त्रियों पर अपना वर्चस्व, प्रभुता चाहता है, वही स्त्रियां वर्चस्व प्रभुत्व, प्रभुता न चाहकर अपना अस्तित्व, अस्मिता, अलग पहचान चाहती हैं। समानता का अधिकार चाहती हैं। जब पुरुषों और स्त्रियों में समानतापूर्वक सम्बन्ध स्थापित होंगे, तभी एक स्वस्थ समाज का निर्माण एवं विकास संभव हो सकेगा। एक ऐसा मानवीय समाज जहाँ कोई भी किसी के साथ बर्बरतापूर्ण, अमानवीय व्यवहार नहीं करेगा।'[9]

'शिकंजे का दर्द' आत्मकथा पितृसत्ता व जाति-व्यवस्था के दोहरे शोषण द्वारा जहाँ नारी के अधिकारों के हनन का पक्ष पाठकों के समक्ष रखती है वहाँ उस शोषण से मुक्ति के लिए अर्थात् अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिए संघर्ष की एक नई राह भी दिखाती है।

सन्दर्भ-

1. मानवाधिकार विश्वकोश (महिला कानून एवं मानवाधिकार) -डॉ॰ कृष्ण कुमार, पृ. 29
2. हिन्दी लेखिकाओं की आत्मकथाएँ -डॉ॰ सरजू प्रसाद मिश्र, पृ. 26
3. शिकंजे का दर्द- सुशीला टाकभौरे, पृ. 48
4. दलित मानवाधिकार-रूपचन्द गौतम, पृ. 93
5. महिला-आत्मकथा लेखन में नारी-डॉ॰ रघुनाथ गणपति देसाई, पृ. 102
6. दलित अस्मिता, अक्तूबर-दिसम्बर, 2010, पृ. 83
7. नारीवादी विमर्श-राकेश कुमार, पृ. 15
8. शिकंजे का दर्द-सुशीला टाकभौरे, पृ. 248
9. नारीवादी विमर्श-राकेश कुमार, पृ. 53

शोध छात्रा-हिन्दी विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़

झोंपड़ पट्टी–जीवन का यथार्थ

(नारी के संदर्भ में)

बबीता भण्डारी

प्रकृति और पुरुष का संबंध अनन्त काल से अन्योन्याश्रित है। प्रकृति पुरुष की शक्ति मानी जाती है। युगों-युगों से दुनिया का नारी रूपी यह आधा हिस्सा शोषित ही रहा है। कभी भावनात्मक रूप से, कभी नीति के माध्यम से, कभी शारीरिक रूप से तो कभी मानसिक स्तर पर इनका शोषण हुआ है। झोंपड़पट्टियों में नारी की स्थिति इससे कुछ भिन्न नहीं है। झोंपड़पट्टियों में पुरुषों की अकर्मण्यता तथा निर्ममता के गहन अंधकार के बीच दीपक की क्षीण लौ की भांति संघर्ष करती इस प्रकृति ने पुरुष का अवतार भी धारण कर लिया है।

ईश्वर की अनुपम कृति 'नारी' का महत्त्व प्राचीन काल से स्वीकारा जाता है। यदि भारतीय धर्म तथा संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में देखा जाए तो आदि शक्ति के प्रतीक रूप में नारी के चरित्र की जो गरिमा कायम की गई है, वह वास्तव में उसकी शक्ति व महत्त्व का प्रतिपादन ही है। आदि शक्ति रूपी नारी ने जहाँ शिव की शक्ति के रूप में अपनी भूमिका निभाई तो वहीं दूसरी ओर दुष्टों के संहार हेतु काली का रूप भी धारण किया। अन्य शब्दों में कहा जा सकता है कि अनन्त काल से नारी जीवन पुरुष, समाज और मानवता के प्रति पूर्ण रूप से समर्पित रहा है परन्तु समय के फेर ने आज नारी को जिस स्थिति में पहुँचाया है, इसकी कल्पना संसार को बनाने व बचाने वाली उस आदि शक्ति ने भी न की होगी। वर्षों पूर्व से बाल-विवाह, सती-प्रथा, पर्दा-प्रथा जैसी कुप्रथाओं के जाल में फँसी नारी वर्तमान युग में चरम कोटि की शारीरिक व मानसिक यातनाओं के दौर से गुज़र रही है। तब भी नारी ने किसी न किसी रूप में अपना महत्त्व व अस्तित्व बनाए रखा है। संघर्ष नारी की नियति रही है और वह इस कसौटी पर अपने भाग्य का निर्माण करने में जुटी हुई है।

नारी-जीवन रूपी सरिता के सरल प्रवाह में पुरुष प्रारम्भ से ही अवरोधक के रूप में उपस्थित है। देवराज इन्द्र ने धोखे से अहिल्या का सतीत्व भंग कर नारी को अपमानित करने का जो अभियान जारी किया वह आज भी निर्बाध रूप से प्रगति कर रहा है। द्रोपदी का चीर-हरण करने वाला द्वापर युगी दुःशासन हो या मासूम युवतियों का यौन-शोषण करने वाला कलयुगी आसाराम बापू व दामिनी-रेप केस के वो पाँच निर्मम अभियुक्त पुरुष ने प्रत्येक युग में नारी की अस्मिता को कलंकित करने का कार्य किया है। शिव-शक्ति, राधा-कृष्ण, लक्ष्मी-नारायण के देश में पुरुषों द्वारा किए इस व्यभिचार ने मात्र नारी को ही नहीं अपितु हमारी संस्कृति को भी कलंकित किया है। नारी-शोषण के अनेक रूप हमारे समक्ष उपस्थित हैं- कहीं उसे सरेआम मारा-पीटा तथा गाली-गलौच किया जाता है, कहीं रेप, गैंग-रेप जैसी प्रताड़नाएँ विद्यमान हैं तो कहीं दकियानूसी सोच नारी पर लाद समाज द्वारा उसे मानसिक रूप से आहत किया जाता है।

आज समाज का ऐसा कोई वर्ग नहीं जहाँ स्त्री की स्थिति संतोषजनक हो। गाँव हो या शहर, उच्च, मध्य हो या निम्न वर्ग प्रत्येक क्षेत्र व वर्ग में नारी की स्थिति को निर्धारित करने में मात्र अर्थ ही नहीं अपितु नारी से जुड़े व्यक्ति, उनकी विचारधारा, मानसिकता तथा परिवेश भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। शहरी परिप्रेक्ष्य में नारी-जीवन के विभिन्न रूप दृष्टिगोचर होते हैं- एक ओर राजनीतिक गतिविधियों में भाग लेती, विज्ञान-तकनीकि के शिखर छूती, कला-साहित्य, शिक्षा तथा खेलों के क्षेत्र में नए-नए कीर्तिमान स्थापित करती नारी है तो वहीं दूसरी ओर सड़क के किनारे पत्थर तोड़ती, घरों में कमरतोड़ मेहनत करती, चारदीवारी में घुटती सिमटती, गरीबी तथा पुरुष द्वारा किए व्याभिचार के थपेड़े झेलती नारी भी इस संघर्षमय जीवन यात्रा में अपनी अद्भुत शक्ति व जीजिविषा का परिचय दे रही है। समाज तथा पुरुषों ने नारी को सदैव हाशिये पर रखने का प्रयास किया है। शहरों में यदि नारी-जीवन के भयावह पक्ष की अनुभूति करनी हो तो नगरों-महानगरों के हाशियों पर बसी अनेक झुग्गी-झोंपड़पट्टियों में अवश्य झांकिए। गहराई से अनुभूत करने पर ज्ञात होगा कि आधुनिकता का दंभ भरने वाले इन शहरों की चमचमाती अट्टालिकाओं के आवरण में छिपी इन स्याह बस्तियों में आज भी नारी-जीवन अनेक कड़वी सच्चाइयों तथा यातनाओं के साथ साँस ले रहा है।

झोंपड़पट्टीवासियों की जीवन-शैली अभावों से ग्रस्त है। पुरुष, स्त्री, वृद्ध, बच्चे सभी इस जीवन-शैली में भागीदार हैं। 'दुर्गंध से बजबजाती गंदी नालियाँ, संड़ाध युक्त आवास, पेशाब की दुर्गंध के उठते भभके, आवारा कुत्तों संग जूठन चुनते मैले-कुचैले बच्चे, पत्थर तोड़ते मजदूर, मादक-द्रव्यों के सेवन तथा आपराधिक कृत्यों में लिप्त पुरुष, रोटी के चंद टुकड़े जुटाने हेतु अपना तन बेचती स्त्रियाँ'-अन्य लोगों के लिए झोंपड़पट्टियों का मात्र इतना ही यथार्थ है। क्या यह यथार्थ यही तक सीमित है? क्या इन नकारात्मक पहलुओं के अतिरिक्त हमारी दृष्टि व सोच से परे झोंपड़पट्टी-जीवन के अन्य सत्य भी हैं? यदि हाँ तो किसने इन अनभिज्ञ सत्यों को अनुभूत किया है? इस प्रश्न के प्रत्युत्तर में 'साहित्यकार' की छवि ही उभर कर सामने आती है। साहित्यकारों ने इन अनछुए पहलुओं को समक्ष रख यहाँ के बाशिंदों के जीवन के उज्ज्वल पक्ष से हमारा साक्षात्कार करवाने का प्रयास किया है। झोंपड़पट्टियों के अभिशप्त जीवन से हम सभी परिचित हैं परन्तु अभाव तथा गरीबी के अभिशाप से त्रस्त इनकी मानसिकता व उससे संघर्ष करती इनकी जीवन-शक्ति के सकारात्मक पहलुओं की ओर न तो हमारी दृष्टि गई और न ही हमने इस सत्य को जानने व समझने का लेशमात्र भी प्रयास किया। परन्तु साहित्यकार अपने कर्तव्य की उपेक्षा नहीं कर सका। उसने स्लमस में रहने वाले इन श्रम-जीवियों की पीड़ा को गहराई से अनुभूत कर ऐसे मार्मिक पात्रों को गढ़ा कि पाठक उनकी विवशताओं व कठिनाइयों से एकाकार हुए बिना नहीं रह सकता। गरीबी, गंदगी, अभाव, चेतनाशून्यता, अन्य वर्गों की उपेक्षा जैसे परिवेश के बीच इन पात्रों में से यदि कोई अदम्य साहस व शक्ति के साथ इन चुनौतियों को स्वीकार कर अपने तथा अपने परिवार के अस्तित्व को बचाए रखने के लिए संघर्षशील है तो वह है-

झोंपड़पट्टियों की नारी

नारी को महिमा मण्डित करने में किसी भी प्रकार का पूर्वाग्रह नहीं वस्तुतः वास्तविकता का प्रकटीकरण ही है। चित्रा मुद्गल, कृष्णा अग्निहोत्री, मंजुल भगत, कौशल्या बैसंत्री जैसी महिला साहित्यकारों ने ही नहीं अपितु जगदम्बा प्रसाद दीक्षित, भीष्म साहनी, शैलेश मटियानी जैसे लेखकों ने भी झोंपड़पट्टीवासी नारी की वस्तु स्थिति को अनुभूत कर उसे अपने साहित्य के माध्यम से जीवंत करने का प्रयास किया है।

समाज के अन्य वर्गों की अपेक्षा झोंपड़पट्टियों में नारी की स्थिति अत्यंत जटिल मानी गई है। शारीरिक व मानसिक प्रताड़नाओं के अतिरिक्त आर्थिक, सामाजिक तथा भौगोलिक समस्याओं ने इनके जीवन को नारकीय बना दिया है। नारी के जन्म से ही उसकी समस्याएँ प्रारम्भ हो जाती हैं। समाज के कोने-कोने में व्याप्त लिंग-भेद की समस्या से झोंपड़पट्टियाँ भी अछूती नहीं हैं। बचपन से ही इन्हें काम की भट्टी में झोंक दिया जाता है। होश संभालते ही इन मासूम बच्चियों को अपने छोटे भाई-बहनों की देखभाल से लेकर घर के सभी बड़े-छोटे काम करते देखा जा सकता है। माता-पिता जहाँ लड़कों पर असीम प्रेम बरसाते हुए उन्हें जिम्मेदारियों से मुक्त रखते हैं तो लड़कियों को बस आदेश देने में ही वे उनके प्रति अपने कर्त्तव्य की इति श्री समझ लेते हैं। लड़कों की आवारा प्रवृत्ति पर उन्हें कोई आपत्ति नहीं होती परन्तु लड़की से उसके बचपन जीने का अधिकार भी छीन लिया जाता है। इन छोटी-छोटी निरीह मासूमों की प्रतिभा किस प्रकार काम के बोझ के नीचे दबा दी जाती है, इसके जीते-जागते उदाहरण हमारे साहित्य में विद्यमान हैं। भीष्मसाहनी जी ने अपने उपन्यास 'बसन्ती' में पिता चौधरी को बसन्ती के साथ अमानवीय-सा व्यवहार करता दिखाया है। वह बसन्ती को बहुत मारता-पीटता है तो वहीं बेटे रामू से बहुत प्रेम करता है। बस्ती तोड़े जाने पर वह रामू को तो अपने साथ ले जाता है पर बसन्ती की उसे तनिक भी चिंता नहीं होती। उस समय बसन्ती के बाल-मन पर पड़े गहरे प्रभाव को लेखक ने अभिव्यक्त करते हुए कहा- बसन्ती का मन फिर से जाने कैसा हो रहा था। माँ-बाप और रामू को दूर जाते देख उसके गले में काँटे-से चुभने लगे थे। रामू को ले गये हैं और मुझे पीछे छोड़ गये हैं।

विवाह रूपी सौदे में बसन्ती को बुलाकीराम को सौंपते हुए दहाड़े मारकर रोती माँ और पिता के आँसुओं की सच्चाई तो तब सामने आती है जब बसन्ती का पिता उसके पेट के बच्चे के भी तीन सौ रुपए बुलाकीराम से वसूल करता है। बचपन की दहलीज़ पर खड़ी लड़की अभी बाल्यकाल पूरा भी नहीं कर पाती कि पुरुष रूपी चील-गिद्ध उसे अपनी वासना का शिकार बनाने हेतु मंडराने लगते हैं। अनुकूल परिस्थितियाँ पाकर वे तो अपनी भूख शांत कर लेते हैं परन्तु पीछे छूट जाते हैं- लड़की के शरीर तथा उससे भी कहीं अधिक उसके बाल-मन पर पड़े वासना के घाव। 'टपरे वाले' (कृष्णा अग्निहोत्री) उपन्यास में भी मासूम पचिया तथा कलिया मुट्ठी भर भोजन के लिए अधेड़ उम्र के दुकानदार तथा उसके बेटे द्वारा शारीरिक रूप से शोषित की जाती हैं। 'अवेणि' (स्नेह मोहनीश) उपन्यास में भी लक्षन की छोटी बेटी कौशल्या को बचपन में ही पड़ोस में रहने वाले सलगू ने कलंकित किया।

झोंपड़पट्टियों में यौवनावस्था की प्रथम सीढ़ी पर कदम रखते ही लड़की को विवाह के बंधन में बांध दिया जाता है और यह विवाह आमतौर पर सौदे के रूप में किया जाता है। लड़की

का पिता अपनी बेटी के रंग-रूप और उम्र के आधार पर उसकी ज्यादा से ज्यादा कीमत वसूलने का प्रयास करता है। बसन्ती का पिता चौधरी उसका सौदा तय करता हुआ कहता है- बारह सौ होंगे। कहेगा तो आज ही उसके हाथ पीले कर दूंगा। चार सौ पेशगी अभी दे दे, पूरे एक हज़ार हो जायेंगी, दो सौ लुगाई घर आ जाने पर दे देना।.... चौदह बरस की भी नहीं हैं छोरी, अब चौदहवें में पैर रखा है और तेरे जैसे के हाथ में दे रहा हूँ। नहीं तो दस आदमी रोज़ इसके लिए पूछते हैं अब मंजूर ही तो बोल दे। मात्र 1200 रुपए के लिए अपनी बेटी को किसी लगड़े व्यक्ति को सौंप देना, इन मासूम बच्चियों को नर्ककुण्ड के हवाले करना ही है।

विवाह के पश्चात् एक स्त्री के जीवन में अनेक बदलाव आते हैं परन्तु झोंपड़पट्टी की नारी के जीवन की नाव विवाह के पश्चात् अनेक झंझावतों से गुज़रते हुए अनेक चाहे-अनचाहे मोड़ों तक पहुँचती है। झोंपड़पट्टियों में रहने वाले कई पुरुष भी जी-तोड़ मेहनत मजदूरी कर अपने परिवार का पेट पालते हैं परन्तु आमतौर पर पुरुष आपराधिक कृत्यों और मादक द्रव्यों के सेवन में ही लिप्त रहते हैं। ऐसे में घर-परिवार की बागडोर स्त्री के हाथों में ही आ जाती है। पुरुष मात्र अपनी शारीरिक तृष्णाओं की पूर्ति, पत्नी को मारने-पीटने, गाली-गलौच करने तथा नशे में चूर रहने को ही अपना कर्त्तव्य समझते हैं। रोते बिलखते बच्चों की भूख तथा चिथड़ों से बाहर झांकते पत्नी के शरीर को छिपाने जैसी जिम्मेदारियों की ओर सोचने से ज्यादा महत्त्वपूर्ण उसके लिए अपने निकम्मेपन की प्रवृत्ति को बनाए रखना है। पुरुषों की इसी निकम्मेपन की प्रवृत्ति की परिणति में ही स्लम्स में वेश्यावृति का बाज़ार पनपता है। ये वो कॉल-गर्ल्स या वेश्याएँ नहीं जो मात्र भौतिक या शारीरिक लालसाओं की पूर्ति हेतु अपना तन बेचती हैं अपितु ये वो विवश माताएँ व लाचार बहनें व बेटियाँ हैं जो अपने स्वजनों के पेट में कुलबुलाते भूख के कीड़ों को शांत करने हेतु अपनी अस्मिता का बलिदान करती हैं। जगदम्बा प्रसाद दीक्षित कृत उपन्यास 'मुरदाघर' में हालात की शिकार नारियाँ (मैना, मरियम, बशीरन) हमारे सम्मुख उपस्थित होती हैं। मुम्बई की झोंपड़पट्टियों में रहने वाली मैना विवाहिता होते हुए भी वेश्या बनने पर मजबूर है। निकम्मे पति पोपट के जीवित होते हुए भी अपने बेटे राजू के लिए कुछ रुखे-सूखे का प्रबंध करने हेतु वह मात्र दो-तीन रूपए में अपना तन बेचने को विवश है। पति पोपट से झगड़ती मैना की मनः स्थिति को लेखक ने सूक्ष्म रूप से अंकित किया है- क्या बोला था तू... धंदा करेगा और पेट भरेंगा मेरा। अब धंदा करती मैं और पेट भरती तेरा...। सुबु से चुल्हा नई जला। शाम से कुतिया का मापक रौंड मारती। एक घराक नईं मिलता। मर गये सब के सब। रोज ऐसाइच। मैं क्या जिनावर हूँ बोल ना। क्या बोला था तू चाली में खोली ले.... दो बखत की रोटी.... लुगड़ा... बिलाउज, जहाँ विवाह के नाम पर बाप बेटी को बेचने के लिए तैयार है तो इस दौड़ में पति रूपी पुरुष भी पीछे नहीं हैं। बसन्ती का पहले से विवाहित पति दीनू विवाह के नाम पर बसन्ती के शरीर से खेलता है और मन भर जाने पर मित्र के हाथों बेचकर चला जाता है। बेशर्मी की हद तो तब पार होती है जब वह अपना तथा अपनी पहली पत्नी का बोझ भी बसन्ती के कंधों पर लाद देता है। जहाँ चौधरी जैसे बाप, दीनू जैसे पति हैं तो वही अन्ना स्वामी (बोरीवली से बोरीबंदर तक- शैलेश मटियानी) जैसे भाई भी हैं, जो अपनी बहनों की आबरू बेचने में तनिक भी संकोच नहीं करते- आज वह (अन्ना स्वामी) खुशी के नशे में था। पिचन्ना ने तेरहवीं से चौदहवीं में कदम रखा था और आज उसकी सही ज़िंदगी का श्रीगणेश डीसोजा फर्नान्डिस के इंग्लिश स्टाइल के चुंबनों से होने वाला था। इसके अतिरिक्त नारी के एकाकीपन का लाभ उठाकर भी कामलोलुप पुरुष उसे घेरने की फिराक में रहते हैं। पिता, पति, भाई हर रूप में पुरुष ने नारी को कलंकित ही किया है परन्तु यह नारी की महानता और उदारता ही है जो मैना, पोपट जैसे नाकारा पति की मृत्यु पर बिलख उठती है और बसन्ती एकनिष्ठ प्रेम के निर्वाह हेतु जीवन भर दीनू और उसकी पत्नी की जिम्मेदारी उठाती है।

पति यदि पत्नी को सहयोग दे तो कम पैसों में भी गुज़र-बसर संभव है। दोहरा अभिशाप उपन्यास की कौशल्या बैसंत्री के माता-पिता इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। दोनों पति-पत्नी एकनिष्ठ होकर जीवन की गाड़ी खींचते रहे और अन्त में संतान की कामयाबी उनके परिश्रम को पुरस्कृत भी करती है।

झोंपड़पट्टी की नारी के दुःखों का अन्त माँ की भूमिका में भी नहीं है अपितु इसमें और भी वृद्धि होती है। अभावों से त्रस्त अपनी जायज़-नाजायज़ संतान के लिए मूल सुविधाएँ जुटाने की नाकामयाबी नारी को दिन-प्रतिदिन निराशा के अंधेरे गर्त में धकेलती जाती है जो जब-तब संतान के प्रति गाली-गलौच, मार-पीट तथा क्रोध के रूप में उभर कर सामने आ जाती है। साहित्य हमें यातना, पीड़ा के बीच दम तोड़ती झोंपड़पट्टीवासी नारी की अज्ञात अलौकिक शक्ति से अनुप्राणित जीजिविषा से परिचित करवाता है। मुरदाघर उपन्यास की वेश्या माँ मरियम अपने नवजात शिशु को गालियाँ बकती है, उसके पैदा होने को अपना दुर्भाग्य बताती है तथा उसकी मौत की भी कामना करती है। यहाँ जगदम्बा प्रसाद जी ने एक सच्चे साहित्यकार की भूमिका का निर्वाह करते हुए एक माँ के भग्न

हृदय के असाध्य घावों की पीड़ा को पाठकों के समक्ष उधेड़कर रख दिया।

अपने बच्चों को दिन-रात पीटने वाली अवेणि उपन्यास की नायिका 'लक्षन' को अपनी बेटी के प्रति हृदय के किसी कोने में सोए हुए अथाह प्रेम-सागर की अनुभूति उसके विवाह के अवसर पर होती है- लक्षन की सुबकी न चाहते हुए भी निकल गई थी- इन्हीं बच्चों के सहारे ही तो उसने अपने बड़े दुःखों और नन्हें-नन्हें सुखों को जिया-भोगा था। ज़िंदगी ने कभी चावल-दाल, चूल्हे-चक्की, भट्ठे-घटौंध से इतनी भी मुहलत नहीं दी थी कि वह क्षण भर आराम से ठहरकर बेटियों को मन भरकर दुलार सके। पर उसके मन-गृह गुफा में मनबोधिनी के लिए नेह-ममता की इतनी लम्बी-चौड़ी नदी बहती है यह तो कभी नहीं सोचा था उसने। यदि हमारा सभ्य समाज इन्हें दया, करुणा, ममता जैसे नारी सुलभ संस्कारों से विहिन समझता है तो अमानवीय ये नारियाँ नहीं अपितु परिस्थितियों की समझ से परे हमारी संकीर्ण विचारधारा है। काम पर जाने में असमर्थ भूख से तड़पती एक बेबस माँ के मुख से नवजात शिशु के लिए अपशब्द निःसृत होना उसकी अमानवीयता नहीं अपितु बेबस अमानवीयता ही है।

झोंपड़पट्टियों में रहने वाली नूर (बोरीवली से बोरीबंदर तक) के माध्यम से शरीर बेचने को विवश नारियों के जीवन को नायक वीरेन के उदार दृष्टिकोण ने महान् तपस्या के रूप में प्रतिष्ठापित किया है- मैं नारी के वेश्या रूप को ही उसका श्रेष्ठतम रूप मानता हूँ, अपने समाज की वर्तमान परिस्थितियों को देखते हुए जिस संयम से वे समाज के सारे अत्याचार, सारे रोग-कोढ़ शिरोधार्य कर लेती हैं- यह कितनी बड़ी तपस्या है? और कौन ढो सकेगा इतना पातक? और कौन सह सकेगा इतना उत्पीड़न? जब साहित्यकार ने नारी को सहनशील व महान् तपस्वी रूप दे दिया है तो हम किस आधार पर उसे नारी सुलभ संस्कारों से विहिन मान सकते हैं। समाज की गंदगी को आत्मसात् करने की क्षमता क्या किसी महान् तपस्या से कम है?

झोंपड़पट्टियों में एक ओर समाज का रोग-कोढ़ धारण करती वेश्याएँ है तो दूसरी ओर मेहनत-मजदूरी करती श्रम-साधिकाएँ भी हैं। दोनों का पेशा बेशक अलग है परन्तु उद्देश्य एक-परिवार के लिए दो जून की रोटी जुटाना ही है। ये नारियाँ परिस्थितियों के आगे घुटने टेकने वालों में से नहीं हैं वरन् इनसे जूझते हुए हवा का रुख अपनी ओर मोड़ने की जद्दोजहद में ही वे अपने जीवन की सार्थकता अनुभव करती हैं। मंजुल भगत के उपन्यास 'अनारो' की नायिका का चरित्र इसी प्रकार का है। वह पति नंदलाल के निकम्मेपन और भगोड़ेपन से त्रस्त होकर जीवन-युद्ध से पलायन नहीं करती बल्कि मेहनत मज़दूरी कर, थोड़ा-थोड़ा पैसा जोड़ अपने बच्चों को शिक्षित कर उपन्यास के अन्त में एक विजेता के रूप में उभरती है। अवेणि उपन्यास की झोंपड़पट्टीवासी 'लक्षन' भी श्रम की देवी है। पति द्वारा दूसरी औरत रखे जाने पर भी घर के उत्तरदायित्वों का पालन करने में वह पीछे नहीं हटती। बच्चों के पालन-पोषण और उनकी शादी की जिम्मेदारियों को निभाते-निभाते उसका शरीर भी जवाब दे चुका है- रात को थक-हारकर गोदड़ी पर पड़ती तो थकान से उसका पोर-पोर टूट रहा होता और मन तिक्तता से खाली-खाली- जैसे हर रात वह मरकर कब्र में सोने चली आती हो, कल की नई भोर में फिर से जी उठने के लिए, नई आस पाल कर।

ऐसा प्रतीत होता है मानो विधता जीवन-पथ से इन्हें उखाड़ने हेतु पग-पग पर विष का प्याला लिए इनके सम्मुख खड़ा है और यह झोंपड़पट्टीवासी नारी हर कदम पर उस विधाता की चुनौती स्वीकार कर कर्म पथ पर अग्रसर रहती है। .....इस नारी के स्नेह बंधन स्वार्थ के कमजोर धागों से जुड़े नहीं है। कुछ ना पाकर भी सब कुछ देने की प्रवृत्ति इन्हें सभ्य कल्चरधारी नारियों की श्रेणी से अलग खड़ा करती है। भौतिक-लिप्साओं के जाल के पफँसी आधुनिक नारी को जहाँ केवल धन और ऐशो-आराम की लालसा है तो वहीं झोंपड़पट्टीवासी नारी प्रेम तथा स्नेह की आस में ही अपना सर्वस्व न्यौछावर कर देती है। ऐसी नारी अभावग्रस्त तथा फटेहाल होते हुए भी पूजनीय है परन्तु प्रेम, त्याग, समर्पण व कर्त्तव्यनिष्ठा की इन उज्ज्वल मूर्तियों के लिए ईश्वर ने इन भयावह काली कोठरियों का ही चुनाव क्यों किया? संभवतः भौतिक चकाचौंध के पीछे छिपे पतन के गहन अंधकार को लक्षित करने के उद्देश्य से ऐसा किया गया हो। अन्य शब्दों में कहा जा सकता है कि वास्तव में यह सभ्य दिखने वाला आधुनिक समाज चारित्रिक व नैतिक मूल्यों के पतन के कारण इन स्याह बस्तियों से भी अधिक अंधकारमय प्रतीत होता हैं। साहित्यकारों द्वारा किए गए झोंपड़पट्टीवासी नारी की स्थिति-सुधार की कामना के प्रयास प्रशंसनीय है।

सहायक ग्रंथ-

1. साहनी, भीष्म, बसन्ती, दिल्ली, राजकमल प्रकाशन,
2. दीक्षित, जगदम्बाप्रसाद, मुरदाघर, दिल्ली, राधकृष्ण प्रकाशन, 1974
3. मटियानी, शैलेश, बोरीवली से बोरीबंदर तक, दिल्ली, रामलाल पुरी प्रकाशन, 1959
4. मोहनीश, स्नेह, अवेणि, दिल्ली, ग्रंथ अकादमी प्रकाशन,
5. अग्निहोत्री, कृष्ण, टपरे वाले, दिल्ली, रिलायंस बुक प्रकाशन, 2007

मंजुल भगत की कहानियों में कामकाजी नारी की संवेदना

डॉ. शेख शहनाज अहमद

समकालीन हिन्दी कहानी में जिन महिला कहानीकारों का आगमन हुआ, उन सभी लेखिकाओं ने नारी जीवन के विविध रूपों, चरित्रों और प्रश्नों को लेकर अनेक कहानियाँ लिखी। सन् 1970 के बाद आयी हुई महिला कहानीकारों ने तो बड़े साहस के साथ नारी के आधुनिक रूप को चित्रित किया है। इस युग में जिन महिला कहानीकारों के लेखन का प्रभाव अपनी विशिष्ट पहचान बना सका, उनमें मंजुल भगत का नाम प्रमुख है। बहुत ही अल्प समय में मंजुल भगत ने समकालीन हिन्दी साहित्य में अपनी अलग पहचान बनायी। इस युग की सर्वाधिक चर्चित और सुपरिचित कहानीकारों में मंजुल भगत हैं। अपनी कहानियों में इस लेखिका ने नारी के सामाजिक स्थान का सूक्ष्म अंकन किया है। उनकी कहानियों में नारी के भिन्न-भिन्न आयाम उद्घाटित हुए हैं। उनके कहानियों की नारी अत्यंत आधुनिक है, तो कही पुरानी परम्पराओं को लेकर चलने वाली पारंपरिक नारी भी है। दाम्पत्य जीवन से जुड़े हुए प्रश्नों को मंजुल जी ने बड़े साहस के साथ चित्रित किया है। उनकी कहानियों में नारी एक ओर कामजनित समस्याओं से खुलकर सामना करती है, तो दूसरी ओर परिवार के लिए अपने-आपको पूरी तरह से समर्पित भी करती है।

हिन्दी कहानियों के साहित्य में मंजुल का कथा-साहित्य नारी जीवन की त्रासदी स्थितियों का एक ऐसा प्रमाणिक लेखा-जोखा है, जिसे किसी सबूत की आवश्यकता नहीं है। वास्तव में उनकी समस्त कहानियों में एक व्याकुल नारी मन की खोज है और यह व्याकुल नारी मन अपने ही दायरे में छटपटा रहा है। यह मन अशक्त है, पर सशक्त बनके मुक्ति पाना चाहता है। वास्तव में 'पर' और 'स्व' के द्वंद्व के बीच मंजुल भगत की कहानियाँ मुक्ति पाने की बेबसी की कहानियाँ है। सन् 1970 के आस-पास भारतीय जीवन में जो परिवर्तन आये और मध्यवर्गीय परिवारों में जो स्थितियाँ बदली उसी का कथ्य मंजुल भगत की कहानियों का आधार है। इसीलिए उनकी कहानियों के विषय में कहा गया है कि, ''मंजुल भगत के कथानकों में रिवीजन नहीं होता बल्कि घटनाओं की अलग-अलग भंगिमाओं से युक्त वैरायटी होती है। चतुर्थ वर्ग से इनका उठाया हुआ कथानक और पात्र इतने और तरीके से उठकर आये हैं कि आश्चर्य होता है। आधुनिक अभिजात्य से छूटकर मंजुल की कलम एकदम कैसे इस वर्ग पर जा टिकी जिसे समाज हेय मानता है।'' इस कथन से स्पष्ट होता है कि, मंजुल भगत ने युगों से चली आती हुई नारी के विशिष्ट रूप को तथाकथित घेरे से बाहर निकालता है। वर्तमान संदर्भ में यही महत्त्व की बात है। इसीलिए कहा भी गया कि, ''आधुनिक भारत में पराधीनता, उत्पीड़न, शोषण, अन्याय, रूढ़ियाँ, कुरीतियाँ आदि के विरुद्ध चलने वाले राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक आंदोलनों ने अन्य पीड़ित वर्गों के साथ नारी को भी सार्वजनिक मंच पर लाकर खड़ा कर दिया है।'' कुंवरपाल सिंह के इस कथन से यह सिद्ध हो जाता है कि, वर्तमान युग में कथा-साहित्य में नारी के अस्तित्व और अधिकार के लिए लगातार चिंतन हो रहा है।

मंजुल भगत की कहानियाँ नारी मन की अंतर्व्यथा को व्यक्त करते हुए संघर्षरत नारी की संपूर्ण रूप को ही अभिव्यंजित करती है। विभिन्न स्तरों पर दैनिक जीवन के संघर्षों से गुज़रने वाली, नारी मन की व्यथा-कथा को उन्होंने बड़ी सूक्ष्मता से अंकित किया है। आज की नारी के मन की भिन्न-भिन्न संवेदना और मनोभावों को जितनी मार्मिकता उन्होंने रूपायित की है, वैसी मार्मिकता बहुत कमी महिला कहानीकारों में देखने को मिलती है। उनकी समग्र कहानियों का अध्ययन करने से स्पष्ट होता है कि, विभिन्न कार्यालयों में कार्यरत नारी जीवन की समस्याओं को न केवल ढंग से समझा है, अपितु उसे समझकर सही ढंग से विश्लेषित करने का प्रयास भी किया है। कामकाजी नारी को अनेक प्रकार की समस्याओं से जूझना पड़ता है। इसका यथार्थ निरूपण उनकी कहानियों में हुआ है। कामकाजी नारी की व्यथाओं की जीती-जागती तस्वीर हमें उनकी कहानियों में देखने को मिलती है। समसामायिक जीवन की भिन्न-भिन्न समस्याओं से जूझते हुए कामकाजी नारी ने ज़िंदगी में जो खट्टे-मीठे अनुभव प्राप्त किये, मंजुलजी की

कहानियाँ उन्हीं की बोलती तस्वीर है।

मंजुल भगत स्वयं एक उच्च शिक्षा प्राप्त नारी है और अपने पति की सेवा में कार्यरत होने के कारण वे अनेक स्थलों पर ज़िंदगी के अनुभवों को लेते हुए पति के साथ घूमती रही है। अपने इन्हीं अनुभवों और सूक्ष्म निरीक्षण दृष्टि के बल पर उन्होंने कामकाजी नारी का यथार्थ चित्रण अपनी कहानियों में किया है। मंजुल की कहानियों में चित्रित कामकाजी नारी का रूप एक जिम्मेदार नारी अपने परिवार के दायित्व को भी पूरी तरह निभाते हुए दिखाई देती है। वह कार्यालय के काम के साथ-साथ परिवार के लिए भी चिंतित है। मंजुल की कहानियों की नारी का रूप बड़ा ही दायित्वपूर्ण है। पर कहीं-कहीं इनमें अहं का भाव देखने को मिलता है। ऐसे नारी पात्र कई बार भटक भी गए है। पर यह भी सच है कि, मंजुलजी ने अपने कर्त्तव्य के प्रति परिपूर्ण रूप से सचेत और उत्तरदायित्व को पूरी तरह से परिपूर्ण कार्यालयों में कार्यरत नारी अपने खुद के अनुभवों से ही, खुद की समस्याओं को सुलझाने का प्रयास करती है। पर यह सच है कि, विभिन्न कार्यालयों में कार्यरत मंजुलजी की नारी आधुनिक जीवन की हर कठिनाई का सामना करने के लिए पूरे साहस के साथ तैयार है।

'गुलमोहर की गुच्छे' मंजुलजी का बहुचर्चित कहानी संग्रह है। इस संग्रह में मंजुलजी ने भिन्न-भिन्न कार्यालयों में कार्यरत कामकाजी नारी की विभिन्न समस्याओं का बड़ा की मार्मिक चित्रण किया है। कामकाजी नारी किस तरह से दैनिक जीवन में अनेक स्तरों पर संघर्ष करते रहती है, इसी विषय पर आधारित इस संग्रह की कहानियाँ है। 'नालायक बहू' मंजुल भगत की अत्यधिक चर्चित कहानी है। इस कहानी में लेखिका ने कामकाजी नारी का चित्रण तो किया ही है, पर साथ ही साथ कामकाजी नारी को कई बार किस प्रकार से अन अपेक्षित प्रश्नों से जूझना पड़ता है, इसका चित्रण इस कहानी में किया गया है। यह सच है कि कामकाजी नारी को घर और बाहर दोनों स्तरों पर अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह करना पड़ता है। उत्तरदायित्व के निर्वाह में भी जिम्मेदारियों को समझने वाली नारी पीछे नहीं हटती। पर यदि प्रश्न उसके अस्तित्व और ममत्व को लेकर उठाया है, तो स्थिति गंभीर हो जाती है। आधुनिक सुशिक्षित और जिम्मेदार नारी के सामने जब इस प्रकार की स्थिति आती है, तब वह किस प्रकार से अविलंब उचित निर्णय लेती है, उसका उत्कृष्ट उदाहरण मंजुलजी की कहानी 'नालायक बहू' है। अपने परिवार के नज़रों में नालायक बहू ही कई बार इतना लायक निर्णय लेती है कि, सारा परिवार उससे अभिभूत हो जाता है। मंजुलजी की इस कहानी की नायिका 'कामिनी' नामक एक ऐसी नारी है, जो अपने परिवार के साथ बड़े आनंद से अपना जीवन व्यतीत कर रही है। कामिनी का पति शेखर नौकरी करता था और घर की जिम्मेदारियाँ कामिनी निभाती थी। पर आगे चलकर शेखर की नौकरी छूट गयी जिसके कारण परिवार की आर्थिक समस्या उपस्थित होने लगी। इस स्थिति में कामिनी खुद नौकरी करने का निर्णय लेती है। घर और परिवार की जिम्मेदारियों का निर्वाह वह अपनी जिम्मेदारी समझती है। अपने पिता की पहचान द्वारा वह नौकरी प्राप्त करने में सफलता हासिल करती है। घर की जिम्मेदारियों को संभालने वाली कामिनी अब एक 'कामकाजी' नारी भी हो गयी। उसके कंधे पर घर और बाहर दोनों का बोझ पड़ा। पर कामिनी ने इस बोझ को कभी बोझ नहीं समझा। ऑफिस में नौकरी की सारी जिम्मेदारियाँ निभाते हुए, वह अपने परिवार के सभी सदस्यों का पूरा ध्यान रखती है। कार्यालयीन कामकाज में उसने कभी अपनी सास और पति की ओर अनदेखा नहीं किया। यही कारण है कि शेखर उसके प्रति बड़ी सम्मान की भावना रखता है। शेखर भी अपनी तरफ से कुछ न कुछ जुगाड़ करने की भावना करता है। कामिनी के व्यवहार से घर के सभी लोग खुश थे। अब परिवार की कोई समस्या नहीं थी। पर कामिनी और शेखर को अब केवल एक ही चिंता थी और वह चिंता थी संतान की। विवाह में इतने सालो बाद भी जब संतान नहीं हुई तो शेखर की अपेक्षा उसकी माँ अधिक चिंतित हुई। उसने एक बार अपने बेटे से कहा भी ''शेखर बेटे! डॉक्टरनी को दिखाओ उसे! अगर कोई उपचार नहीं, तो बेटे क्या तू निपूता तरेगा? अरे बाल बच्चा न होने पर तो कानून तलाक दे देने तक की इजाज़त दे देवे है।'' शेखर ने जब माँ की इस बात को सुना, तो वह बहुत अधिक झुझला गया था। क्योंकि शेखर इस प्रकार का निर्णय कभी भी नहीं ले सकता था। क्योंकि वह कामिनी को मन से चाहता था और ऐसा करना कामिनी पर अन्याय करना होगा यह भी जानता था। कामिनी को जब इन सारी बातों का पता चला तो उसने बिना विलंब के जीवन के इस महत्त्वपूर्ण मोड़ पर आकर ऐसा निर्णय लिया, जिससे कामिनी के भीतर का सामाजिक दायित्व का बोझ और उदात्त विचार स्पष्ट होता है। एक कामकाजी नारी परिवार और कार्यालय की सारी जिम्मेदारियों को निभाते हुए हर प्रकार के त्याग और बलिदान की भी तैयारी रखती है, यही कामिनी ने सिद्ध किया है। कामिनी को अपनी सास की बात भी निरर्थक नहीं लगती और वह निसंतान होने के दुख को दूर करने का निर्णय लेती है। वह अनाथालय से बच्चा गोद लेने की बात पति शेखर से कहती है, जिसे सुन शेखर को थोड़ा अजीब लगता है। क्योंकि शेखर के भाई की संताने भी थी। पर कामिनी ने शेखर के भाई के बच्चे को गोद लेने की बात नहीं कहीं। ऐसा नहीं कि

कामिनी को उनके प्रति कोई दुराभाव था। अनाथालय से बच्चा गोद लेने की बात कामिनी ने अपने उच्च संस्कार और सामाजिक दायित्व की भावना के कारण ही लिया था। बाद में इस बात को शेखर भी मान लेता है। बात रह गयी थी सिर्फ कामिनी के सास की तो कामिनी ने सास को समझाते हुए कहा कि, शेखर के भाई और उसकी संताने बहुत सुखी और संपन्न परिवार में रहते हैं, ऐसे परिवार के बच्चे को गोद लेने का क्या अर्थ हो सकता है। वह समझदारी के साथ सास से कहती है, ''अम्मा, इस बेचारे को वह भी कुछ मिल जाएगा, जिससे यह वंचित है। बड़ा होकर हमी को मानेगा।'' इस बात को सुनकार कामिनी की सास भी कोई विरोध नहीं कर सकी। बहुत दूर की सोचकर उसने अनाथालय से गरीब बच्चे को गोद लेने का निर्णय लिया। उसने अनाथालय से बच्चा लाकर और उसे गोद लेकर न केवल अपनी सूनी गोद भरी। अपितु, अनाथ बच्चे को माता-पिता का प्यार भी दिया। कामिनी का यह निर्णय उसकी चरित्रगत महानता को ही रेखांकित करता है। घर, नौकरी संभालते हुए भी कामिनी ने एक महान् सामाजिक दायित्व का निर्वाह किया।

मंजुलजी की यह कहानी मात्र भारतीय नारी के आदर्श की कहानी है। अपितु यह कहानी एक ऐसी कामकाजी नारी के आदर्श की कहानी है, जिसने अपने परिवार के दायित्व को निभाते हुए माँ की ममता दायित्व का भी निर्वाह किया, तो साथ ही साथ समाज के प्रति अपने कर्त्तव्य को भी पूरी तरह से निभाया है। कामिनी जैसे योग्य और समय पर लिये गये उचित निर्णय से पूरे परिवार को संजोये रखते है, इसका उत्कृष्ट उदाहरण 'नालायक बहू' के लायक बहू ने अपनी कृति और व्यवहार से दिया है। लेखिका ने कामिनी के माध्यम से दायित्व को निभाने वाली नारी का जो चरित्र उपस्थित किया है, वह अनुकरनीय है।

मंजुल भगत ने अपनी कहानियों में कामकाजी नारी की समस्याओं का चित्रण किया है, वहीं कामकाजी नारी की अंतर मन की पीड़ा को भी बड़ी सूक्ष्मता से चित्रित किया है। 'तीसरी औरत' कहानी में लेखिका ने 'ताशा' के रूप में एक नारी की व्यथा की जीवंत तस्वीर ही प्रस्तुत की है। मंजुल की यह कहानी प्रारंभ से लेकर अंत तक बड़ी सहज और कृत्रिमता से शून्य है। पर कहानी का कथ्य इस प्रकार से प्रस्तुत किया गया है कि, वह पाठक के मर्मस्थल को छू लेता है। 'तीसरी ओर' कहानी की संवेदना पाठकों को झकझोर कर रख देती है।

इस कहानी का मुख्य पात्र 'ताशा' है और ताशा केंद्रिय चरित्र के इर्द-गिर्द ही सारा कथानक बुना गया है। ताशा एक पढ़ी-लिखी नौकरी पेशा नारी है। जिस दफ्तर में वह काम करती है, वहाँ उसकी प्रतिमा एक काबिल औरत की थी। इस दफ्तर में उसके चारों ओर एक प्रभा मंडल था। उसका अपना केबिन था, कुर्सियाँ थी, मेज थी, फाईले थी। अच्छी खासी नौकरी थी उसकी, जहाँ उसके पास एक स्टेनों और एक चपरासी था। जाने-आने के लिए मोटर भी थी, उसे। ताशा के कार्यालयीन को पद्धति और व्यक्तित्व के विषय में स्वयं लेखिका ने ही कहा है, ''इसी कर्मपूर्ण दुनिया के सख्त-सर्द घेरे में लिपटी ताश घर लौटी। अपने गली का मोड़ पार करते ही वह गाड़ी तेज़ रफ्तार तेज़ कर देती ठसके से उसे अपने घर के सामने लगा वह यूँ उतरती कि वह पड़ोसिनों की उत्सुक पूछताछ को अवसर ही न मिले।'' अपने दफ्तर से लौटने के बाद ताशा अपने पास पड़ोसियों को न तो बात करने का अवसर देती है और न ही खुद उनसे बात करना चाहती है ऐसा भी नहीं कि घर के भीतर जाने के बाद वह किसी काम में व्यस्त हो जाती होगी या आनंद से मौज मनाती होगी। बंद घर के भीतर उसने तो सदा ही वही सिलन, वही टेलीफ़ोन, वही किताबे और वही प्रतीक्षा देखी। बारह मौसम सनसनाता हुआ उमड़ता और बदल जाता, पर बंद कमरे के भीतर ताशा को केवल प्रतीक्षा करते रहती।

इस कहानी की मुख्य पात्र ताशा एक कामकाजी नारी तो है ही, पर वह अविवाहित है। इस शहर में वह अकेली ही घर में रहती है, जहाँ घर का सारा काम नौकरानी करती है। खाना बनाने का काम भी वही नौकरानी करती है। मंजुल भगत की कहानियों मे घटनाएँ या पात्र इतनी सहजता से प्रवेश कर जाते है कि, पाठक उन्हें अपने आस-पास का ही समझने लगते है। इसी सहजता से ताश के जीवन में गौरव आया था। गौरव और ताशा के बीच बड़े मधुर संबंध थे। जब भी गौरव ताशा से मिलने आता, कमरे की गरकाहट भरे गोशे से गौरव ताशा को उठा लेता। ढलती हुई शाम में जब भी गौरव ताशा के घर आता तो ताशा को यही लगता कि, एक जीती-जागती खूबसूरत शाम उसने गौरव के साथ गुज़ारी। भले ही वह शाम चुराई हुई क्यों न हो। वह तो वक्त की देनदार है, जिसने उसे ऐसी शाम दी, ऐसी घड़ियाँ दी, जो उसे जिलाने और रिझाने के लिए आयी थी। ताशा और गौरव का इस प्रकार का मिलान लोगों के नज़रों में त्रिकोण था। मगर यह सत्य है कि, चाहत कभी भी त्रिकोनी नहीं होती। संबंध कभी किसी कोने में बाँधें नहीं जा सकते। ताशा ने नौकरी करते हुए भी किसी कठिनाइयों का सामना नहीं किया। उसके जीवन में तो केवल अच्छी खासी नौकरी और गौरव ही था। ताशा ने यह समझ लिया था कि, गौरव की पत्नी तो उसे कबूल कर लेगी और गौरव भी यही समझता है। पर ताशा जानती है, इस रिश्ते का अर्थ क्या होता है। इसीलिए उसने गौरव से कहा भी था कि, ''वह कैसे कबूल कर लेगी इस

बाझ रिश्ते को।'' पर साथ ही उसने यह भी कहा कि, तुम्हारी पत्नी ने जरा-सा हंगामा करने के बाद इसे पूरी तरह से स्वीकार कर लिया है और आगे वह यह भी कहती है कि, ''गौरव तुम्हारी पत्नी ने मुझे यह बेवकूफ की जन्नत बख्शी है.....पर सोचती हूँ बेवकूफ की यह जन्नत किसी अक्लमंद की दोजख से बेहतर है। इस एकांत की अंतरंगता को बनाये रखने के लिए मैं तो दफ्तर की किसी को लोग को भी यहाँ नही बुलाती।''

ताशा जैसी अविवाहित कामकाजी नारी ने विवाहित गौरव को बांध कर रखा है, पर कभी-कभी उसे इस तरह का सपना भी आता है, जिससे उसे सचमुच की तकलीफ होती है। वह मानती है कि, जितना तीखा दर्द सपने में होता है, उतना, शायद असलियत में भी न हो। संभवतः स्पप्न का यह दर्द उसके भावी जीवन में आने वाले दुखद घटनाओं का संकेत ही था। उसे लगता था कि, कोई तीसरी औरत है, जिसके सामने न तो ताशा ठहर पायेगी न तो उसकी पत्नी। सब कुछ बहा ले जायेगी यह औरत। भर-भर उलीच लेगी गौरव को और वे दोनों किनारे खड़ी ताकते रहेगी। पर अचानक गौरव की बातों से वह फिर से जमी पर आ गई। गौरव कई बार यह सोचता था कि, किस तरह तनहा ज़िंदगी बिता रही है ताशा। वह उसे कहता भी है कि, दफ्तर से अपनी साथियों को क्यों न बुला लेती। इस बात को सुनकर ताशा ने जो कहा, वह उसकी ज़िन्दगी की वास्तविकता को प्रस्तुत करता है। ताशा ने जो भी कहा, वही उसकी ज़िन्दगी की वास्तविकता को प्रस्तुत करता है। ताशा ने टूटी हुई आवाज़ में कहा, ''मेरी तन्हाई की न जाने कितनी तहे है, गौरव। हर तह को चीर सकना मेरी किसी कुलीग की बस की बात नहीं, जैसे किसी गर्दालू सड़क को भिचती, मश्क-दो-मश्क पानी से सरखेज नहीं कर सकता।'' पात नहीं गौरव ताशा के इस कही हुई बात का अर्थ कितना समझ सका। गौरव ने संबंध बढ़ाने की वजह ही इस वाक्य में कही गयी है।

इस कहानी में मंजुलजी ने ताशा के रूप में व्यथाओं से भरी जीवंत तस्वीर ही रेखांकित की है। नहीं जानती थी ताशा की जीवन में कभी 'तीसरी औरत' आयेगी और 'तीसरी औरत' सबकुछ बहाकर ले जायेगी। गौरव के बेटे की शादी में जो दृश्य ताशा ने देखा था, उससे तो उसका दिल ही टूट गया था। आज उसे पता चला कि, दिल तो सचमुच टूटता है, टिसूता-ऐठता है, दर्द से। जो देखा था वह ताशा गौरव के आँखों में देखना चाहती थी। कई दिनों के बाद उसने दफ्तर जाना शुरू किया और उसने एक दिन अप्रतिक्षित शाम को गौरव आया। पहले से भी अधिक युवा और तरोताज़ा। आते पहले वह ही बोला, मेरा अब यहाँ आना ठीक नहीं है। मेरी पत्नी को उज्र है और वह यह सोचने लगी, ''कितनी जल्दी पर्दे में चला जाता है, घर की औरतों की आड़ में। जब कहीं से कटना हो तो और जब कही जुड़ना तो तब? वही संबंध झटककर चल देता है, बेसरोकार।'' ताशा ने इसी समय गौरव से कहा, 'गौरव तुम चले जाओ यहाँ से जल्दी, फौरन ही।' गौरव तो चला गया। पर ताशा टुकड़ों-टुकड़ों में बिखेर गयी। पर चूँकि वह एक सुशिक्षित कामकाजी नारी थी। जिसमें असीम आत्मबल था। इसीलिए कुछ ही क्षणों के बाद स्वयं उसने महसूस किया कि, उसक वजूद के टुकड़े एक साथ उठके खड़े हुए। आत्मनिर्भरता और परिपूर्णतः के वैभव से ओतप्रोत उसने अपने-आपको पा लिया। वह जान गयी कि, उसकी अपनी क्षमताओं और संभावनाओं का संसार सामने है। ताशा के अटूट व्यक्तित्व की यह कहानी जीवन के प्रति उसकी आशा और आस्था को ही व्यक्त करती है।

मंजुल भगत की कहानियों में चित्रित कामकाजी नारी का रूप 'खोज' कहानी में भी देखने को मिलता है। 'खोज' कहानी की नायिका भी एक ऐसी नारी है, जो दैनिक जीवन की भाग-दौड़ में भी अपने स्वत्व की खोज करते रहती है। कहानी की नायिका मिसेस नीलिमा वर्मा वैसे एक बुद्धिमान नारी समझी जाती है। मिसेज नीलिमा वर्मा क्रिएटीव्हिटी, विज्ञापन एजेन्सी में कॉपी रायटर का काम करती है। उनके विषय में कहा जाता है कि, वे एक कल्पनाशील और ओरिजनल विचारों की नारी है। अपने इस कल्पनाशील पत्नी के विषय में पति मिस्टर वर्मा की राय है कि, ''यह नीलिमा, मेरी पत्नी भई! आय एक रियली व्हेरी लक्की, घर और बाहर दोनों में दक्ष।'' मि. वर्मा नीलिमा को पाकर अपने को धन्य समझते है। क्योंकि उसे अपने पति के जीवन को खुशी से भर दिया था। मि. वर्मा भी सदा अपने काम में व्यस्त रहते। नीलिमा की एक माह की छुट्टी जमा होती है, तब वह अपने पति से कहती है, दफ्तर से जी ऊब गया। सोचती हूँ लिव्ह ले डालू और कुछ दिनों के लिए बंबई आपके साथ हो आऊँ। पर मि. वर्मा साथ जाने से इनकार करते है और समय न होने की बात बताते हैं और नीलिमा अकेले ही बंबई पहुँच जाती है। एक कामकाजी नारी को जब दफ्तर से समय मिलता है, तो वह किस प्रकार सोचती है, अपने खुद के विषय में। ऑफिस और दोनों जगह पहुँचने के लिए उसे कितनी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। बस स्टैण्ड पर, बस की प्रतीक्षा, वहाँ की भीड़-भाड़ और फिर बस में जगह मिलने की चिंता इसी आपाधापी में वह अपने आपको थका हुआ पाती है। घर पहुँचते-पहुँचते मिसेज नीलिमा वर्मा सिर्फ नीलू रह जाती है। वह सोचती है, ''नीलू भी केवल 'मैं' रह जाएगी....यह 'मैं' हूँ मिसेज वर्मा और नीलिमा से भी अधिक महत्त्वपूर्ण, केवल 'मैं' अनाम किंतु फिर भी मैं।'' घर-परिवार और ऑफिस के उत्तरदायत्वि के प्रति, नीलिमा सदा ही सजग

रही है। पर कभी-कभार वह घर और बाहर की दुनिया में वह अपने आपको असंतुलित पाती है। अपने हर काम को उसने जिम्मेदारी से निभाया और कर्त्तव्यों का पालने करने में कोई कसर नहीं छोड़ी। फिर भी यह अहसास होता रहता है कि, आस-पास के लोगों की अपेक्षा के अनुकूल उसे जीना पड़ रहा है, जबकि वह अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व के साथ जीना चाहती है। अपने जीवन में उसे लगातार अपने स्वयं की ही खोज रहती है। वह स्वयं नहीं जानती थी कि, क्रिएटिव्हिटी, विज्ञापन एजेन्सी में काम करते समय लोग उसके विषय में क्या कहते है। उसने कभी इस बात की चिंता नहीं की। वह सोचती थी कि, घर से दफ्तर और दफ्तर से घर जाने के लिए कोई मौसम ठीक से बना ही नहीं। कभी-कभार तो उसे लगता है कि, जैसे उसका निजी अस्तित्व ही नहीं। ''मिसेज वर्मा, नीलिमा, नीलू सब अलग-अलग नाटक में कसे गये अलग रोल है। उसके अन्दर का जो 'मैं' है, उसका रोल क्या है? दफ्तर, पति, माँ, बाप, यहाँ तक कि घर की धोबन, जमादारिन, कहारिन सभी ने उसके एक-एक व्यक्तित्व बक्श दिये है, जिसके अनुकूल होकर उसे जीना पड़ता है।" वह सोचती है कि उसके परिचय को अनेक परिभाषाओं के माध्यम से व्यक्त किया गया है और सभी परिभाषाओं के माध्यम से व्यक्त किया गया है और सभी परिभाषाओं की एक सीमा है। इन सीमाओं में नीलिमा अपने-आपको बाँधना नहीं चाहती। वह अपने व्यक्तित्व की अलग पहचान कायम रखना चाहती है। कोई क्या कहते है।? यह जानने के बजाए, वह जानना चाहती है कि, वह क्या है? स्वत्व को जानने वाली नीलिमा में सतत् एक तृष्णा है। अपने स्वत्व को खोजने वाली इस नारी में जो तृष्णा है, वह अर्थहीन या अनावश्यक नहीं है। वह स्वयं एक संयमित असमर्पित नारी है। यदि उससे पूछा जाए वह कौन है, तो वह उसी समय कहेगी, ''जी, मैं, ''मैं'' हूँ। सदा बेचैन रहती हूँ, जीवन में न जाने क्या-क्या खोजा करती हूँ।'' और उसकी यह खोज लगातार जारी है।

इस कहानी में मंजुल भगत ने इस कहानी में एक ऐसी कामकाजी महिला को चित्रित किया, जो अपने अस्तित्व की खोज में भटकती रहती है और चाहती है कि, औरों के अनुकूल बनके जीने के बजाए अपने अनुकूल बनके जिये और इसी खोज में वह रोज के माहौल से दूर जाना चाहती है। पर उसे कोई खासा परिवर्तन नहीं मिला। माँ और पिताजी के हाल को वह दर्शक बनी देख रही है और फिर से वह फिल्म एक्टर राकेश कुमार का इंटरव्यूह लेने निकल पड़ती है।

इस कहानी में मंजुल भगत ने नीलिमा जैसे चरित्र को चित्रित करते हुए उसके अंतरंग के द्वंद्व को ही अभिव्यक्त किया है। अपने व्यक्तित्व को और स्वत्व की खोज करने वाली नीलिमा को जब यह पता चलता है कि, वह माँ बनने वाली है, तो उसकी आँखों में नवजीवन-सा कुछ चमक गया। अब जीवन के विषय में उसका दृष्टिकोण ही बदल गया और जब वह माँ बन गई, तो उसका हृदय हिलोर-सा होने लगा। वह सोचती है, यही है क्या वह 'मैं', जो मेरी पकड़ में नहीं आ रहा था, यह तो साकार रूप में मेरे सम्मुख आ प्रस्तुत हुआ। क्या मैं इसे ही खोजती फिर रही थी? और संभवतः यही मातृत्व को प्राप्त नीलिमा की खोज समाप्त हो गयी।

मंजुलजी की यह कहानी उस नारी चरित्र को प्रस्तुत करती है जिसने अपने जीवन में विकल्प खोजे है, तो साथ निर्णय भी लिये हैं। उसकी यह खोज या निर्णय भले ही समस्याओं का पूर्ण समाधान नहीं हैं। महत्त्वपूर्ण यह है कि, नीलिमा ने अपने स्व को बनाए रखकर निर्णय लिया है और इस नारी चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता है।

इस प्रकार मंजुल भगत ने 'नालायक बहू' के रूप में कामिनी, 'तीसरी औरत' के रूप में 'ताशा' और 'खोज' की 'नीलिमा वर्मा' के रूप में उन नारी चरित्रों को चित्रित किया है, जो कामकाजी है। इन कामकाजी नारी के चरित्र को चित्रित करते हुए लेखिका न केवल नारी जीवन की समस्याओं पर प्रकाश डाला है, अपितु जीवन की आपाधापी में जब कभी चाहे-अनचाहे या अनपेक्षित प्रसंग आते हैं, तो इन नारी चरित्रों के सम्मुख एक साथ कई सारे विकल्प उपस्थित रहते है। विकल्पों के निर्णय के क्षण में संभल के ही कामकाजी नारी को आगे कदम बढ़ाना पड़ता है। क्योंकि यह निर्णय के क्षणों में चूक गये तो उसका खामियाजा उसी को भरना पड़ता है। वर्तमान आधुनिक नारी कितनी सजग होकर जीवन में निर्णय लेती है और समय आने पर कठिन स्थितियों का सामना करने के लिए तैयार रहती है, यही तथ्य उनकी कहानियों के कामकाजी नारी चरित्रों के माध्यम से उद्‌घाटित हुआ है। इसमें संदेह नहीं कि, कामकाजी नारी के चित्रण में नारी जीवन की व्यथाओं और पीड़ाओं का भी बड़ा सूक्ष्म और मनोवैज्ञानिक चित्रण लेखिका ने किया है। उनके सभी कामकाली नारी पात्र अपने अकृत्रिम व्यवहार और सहज स्वभाव से पाठकों के मर्म को छू लेते है और यही मंजुलजी की कहानियों की सबसे बड़ी सफलता है।

मंजुल भगत की कहानियों में विशेष रूप से मध्य और निम्न मध्यवर्ग की पीड़ा, व्यथा और संवेदनाओं को सार्थक अभिव्यक्ति मिली है। यह सार्थक अभिव्यक्ति ही रचनाकार की शैली की विशेषता है और यही शैलीगत विशेषता उनकी रचनाओं का अधिक महत्त्वपूर्ण बनाती है।

शेष पृ. 54 पर .....

वैश्वीकरण के संदर्भ में हिंदी : दशा और दिशा

अखिलेश कुमार

विश्व में लगभग तीन हज़ार या उससे कुछ अधिक भाषाएं बोली जाती है। विश्व में सभी भाषाएं लगभग तेरह भाषा परिवारों में विभक्त है। इस भाषा परिवारों में सबसे बड़ा भाषा परिवार भारोपीय परिवार है। इसी भारोपीय परिवार के अंतर्गत हिंदी भाषा आती है। यही हिंदी-भाषा भारत की जन भाषा, राज भाषा, संपर्क भाषा एवं राष्ट्र भाषा के रूप मे शोभायमान है। हिंदी अपने मे समाहित अनेक विशेषताओं के कारण विश्व की महत्त्वपूर्ण भाषाओं में से एक है, ''हिंदी विश्व में विद्यमान समृद्धतम भाषाओं में से एक है। संरचना की सौंदर्यशीलता, भाव-भंगिमाओं की गहनता, अभिव्यक्ति की तीव्रता तथा शैलियों की विविधता को समेटती हुई हिंदी भाषा अनेक रूपों में प्रवाहमान है।''[1] इन विशेषताओ के कारण आज हिंदी अपनी राष्ट्रीय परिधि रुपी सीमा को तोड़ते हुये अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर अपना दायरा नित-प्रति बढ़ा रही है। आज भारत अनेक दृष्टिकोणों से वैश्विक स्तर पर एक मज़बूत ताकत के रूप में उभर रहा है। अतः 52 करोड़ जनता की भाषा एवं संस्कृति को जानने एवं अन्य विभिन्न कारणो से विश्व के अनेक राष्ट्र हिंदी भाषा को सीख रहे हैं तथा अपने-अपने देश के विश्वविद्यालययों में हिंदी को एक पाठ्यक्रम के रूप में सम्मिलित करा रहे है। इस तरह हिंदी भाषा वैश्विक स्तर पर सम्मान की दृष्टि से देखी जाने लगी है। वह दिन अब अधिक दूर नहीं है, जब हिंदी भाषा विश्व-भाषा जैसे शीर्षस्थ पद पर आसीन होगी।

हिंदी की आज सामान्य स्थिति नहीं है। आज वह विश्व शक्ति बनने जा रहे देश को अभिव्यक्ति का समर्थ औजार है। जहाँ अंग्रेज़ी की भाषाई और सांस्कृतिक औपनिवेशवादी वर्चस्व से लोहा लेती हुई दुनिया की कई भाषाएँ इतिहास के गर्त में खोती जा रही है, वही हिंदी अपना दायरा विस्तृत कर रही है। आज कई मातृभाषाएं या तो मृतप्राय हो गयी है या अपने अस्तित्व को बचाने के लिए संकट से गुज़र रही है, ''एक अनुमान के मुताबिक दुनिया भर में तकरीबन 6900 मातृ भाषाएँ बोली जाती है। इसमें से तक़रीबन 2500 मातृ भाषाएँ अपने अस्तित्व के संकट से गुज़र रही है। इसमें से कुछ को 'चिंताजनक स्थिति वाली भाषाओं की सूची' में रख दिया गया है। संयुक्त राष्ट ्र द्वारा कराये गये एक तुलनात्मक अध्ययन से खुलासा हुआ कि 2001 में विलुप्त प्राय मातृभाषाओं की संख्या 900 के आस-पास थी वह आज तीन गुना से भी पार जा चुकी है।''[2] इसके विपरीत हिंदी आज विभिन्न झंझावटों को सहते हुए संपूर्ण विश्व जगत में अपना दायरा बढ़ा रही है तथा संपूर्ण विश्व जगत को अचंभित एवं प्रभावित कर रही है। आज हिंदी बोलने वाले व्यक्तियों की संख्या के आधार पर चीनी भाषा के बाद दूसरे स्थान पर आती है, ''एक भाषा के तौर पर उसने (हिंदी ने) अपने सभी प्रतिद्वंद्वियों को पीछे छोड़ दिया है। विगत् दो दशकों में जिस तेज़ी से हिंदी का अंतर्राष्ट्रीय विकास हुआ है और उसके प्रति लोगों का रुझान बढ़ा है वह उसकी लोकप्रियता को रेखांकित करता है। शायद ही विश्व में किसी भाषा का हिंदी के तर्ज़ पर इस तरह फैलाव हुआ हो......यूजर्स की लिहाज़ से देखें तो 1952 में हिंदी विश्व मे पाँचवें स्थान पर थी। 1980 के दशक में वह चीनी और अंग्रेज़ी के बाद तीसरे स्थान पर आ गयी। आज उसकी लोकप्रियता लोगों के सिर चढ़कर बोल रही है और वह चीनी भाषा के बाद दूसरे स्थान पर आ गयी है। भविष्य भी हिंदी का ही है। कल वह चीनी भाषा को पछाड़कर नंबर एक होने का गौरव हासिल कर ले तो आश्चर्य की बात नहीं होगी।''[3]

स्वतंत्रता के बाद हिंदी पाँचवें स्थान से दूसरे स्थान पर आ गयी है। विश्व में हिंदी के बढ़ते कदम में बाज़ार की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। वैश्वीकरण के दौर में अधिकतम जनसंख्या से संपर्क के लिए हिंदी सीखने एवं सिखाने की तरफ़ पूरे विश्व का ध्यान गया है। ग्लोबलाइजेशन के दौर में बाज़ार का हिंदी के प्रचार-प्रसार में महत्त्वपूर्ण भूमिका को नकारा नहीं जा सकता। आज बाज़ार हिंदी के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर रहा है, ''इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता है कि बाज़ार ने हिंदी की स्वीकार्यता को नई ऊँचाई दी है और विश्व को आकर्षित किया है।''[4]

किसी भी भाषा के विकास के लिये उसका रोजगारपरक

एवं संवाद परक होना बेहद ज़रूर है। भाषा का प्रसार एवं विस्तार इन दोनों विशेषताओं के कारण ही संभव है। यदि किसी भाषा में यह दोनों गुण नहीं होगे तो वह भाषा बहुत शीघ्र ही मृत प्राय हो जायेगी तथा उसका अस्तित्व ही नष्ट हो जायेगा। अंग्रेज़ी भाषा के प्रचार-प्रसार एवं उसके विकास एवं फैलाव का प्रमुख कारण उसका रोजगारपरक एवं संवादपरक होना रहा है। आज अंग्रेज़ी से सीख लेती हुई हिंदी भी उसी के नक़्शे कदम पर चलने को आतुर है, ''अगर वैश्विक भाषा अंग्रेज़ी के फैलाव की बात करे तो निःसंदेह उसके ढेर सारे कारण हो सकते है, लेकिन वह अपने शानदार संवाद और व्यापारिक नज़रिये के कारण भी अपना विश्व व्यापी चरित्र गढ़ने में सफल रही है। आज हिंदी-भाषा भी इसी चरित्र को अपनाती दिख रही है। यह विश्व-संवाद की एक सशक्त भाषा के तौर पर उभर रही है।''[5] भारतीय संस्कृति .... हिंदी भी अपने अंदर सभी गुणों को समेटे हुए विश्व-भाषा बनने की जद्दो ज़हद मे लगी हुयी है।

प्राचीन काल से ही विश्व के अनेक देशों मे भारतीय भाषाओं, वेदों, पुराणों, उपनिषदों आदि के बारे में जानकारी एवं अध्ययन करने की तीव्र उत्कठा रही है वह उत्कंठा हिंदी के प्रति भी बनी हुयी है। यूरोपीय देश जर्मनी ने जिस तरह वेदों, पुराणों एवं उपनिषदों को जर्मन, भाषा में अनुदित कर अपने भारतीय साहित्य के प्रति अनुराग को प्रदर्शित किया था। वैसा ही अनुराग उनका आज भी संस्कृत से उत्पन्न हिंदी के लिये भी दिखाई दे रहा है, ''आज वह (जर्मनी) संस्कृत की तरह हिंदी को भी उतनी ही महत्ता देते देखा जा रहा है। जर्मनी के लोग हिंदी को एशियाई आबादी के एक बड़े तबके से संपर्क साधने का सबसे दमदार हथियार मानने लगे है। जर्मनी के हाइडेलवर्ग, लोअरसेक्सोनी के लाइपजिग, नर्लिन के हंवोलडिट और बॉन विश्वविद्यालय के अलावा दुनिया के कई शिक्षण संस्थाओं में अब हिंदी भाषा पाठ्यक्रम के रूप में सम्मिलित कर ली गई है।''[6] आज भूमंडलीकरण ने न केवल जर्मनी बल्कि विश्व के लोगों को विभिन्न कारणों से हिंदी-भाषा सीखने की ओर उन्मुख किया है। भूमंडलीकरण की प्रक्रिया में हिंदी साहित्य भी वैश्विक हो रहा है। आज विभिन्न देशों में अनेक भारतीय साहित्यकारों की रचनाओं को अपने यहाँ की भाषाओं में अनुवाद किया है तथा उसको प्रकाशित कराने का भी महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहे है। इसी तरह का एक सराहनीय प्रयास इटली में देखने को मिला है, ''पिछले दिनों हिंदी के तीन प्रमुख कथाकारों प्रेमचंद, कृष्ण सोबती और चित्रा मुद्गल की मशहूर कहानियों क्रमशः 'सेवा-मार्ग', 'ऐ लड़की' और 'दुलहिन' को इतालवी और हिंदी दोनों भाषाओं में न सिर्फ इटली के मिलान स्थित ए ओरिएते प्रकाशन ने 'रत्नमाला' श्रृंखला मे प्रकाशित किया है, बल्कि इटली और भारत के नये प्रतिभाशाली चित्रकारों एंतोनेला प्रोता, काइमेन कालौटा, ग्यूसेप कार्फाग्न, रेणुका केसर मधु और विजय कुमार ने उनके कहानियों की संवेदनाओं को अपने चित्रों में उकेरा है।''[7] इटली और भारत की कला और साहित्य के बीच सेतु बनी तुरीन विश्वविद्यालय में प्रोफ़ेसर आलेसांद्रा को सोलारी बताती है कि, ''पूरे यूरोप मे हिंदी सीखने और उसके साहित्य को समझने की प्रवृत्ति बढ़ रही है।''[8] हिंदी संस्कृत की मास्टर प्रो. आलेसादा कहती है कि ''कुछ दशक पहले तक यूरोपीय लोग हिंदी नहीं जानते थे पर आज वहाँ बहुत से लोग हिंदी मे बातचीत करते है व हिंदी की पुस्तकें पढ़ते हैं।''[9] वे बताती है कि, ''इटली में सत्तर के दशक में वेनिस में लक्ष्मण प्रसाद मिश्र के प्रयासों से विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में हिंदी सम्मिलित हुई।

नेपल्स में श्याम मनोहर पाण्डेय और तुरिन में प्रोस्टेफनों ने शिक्षण आरंभ किया।[10] आज इन विश्वविद्यालयों में हिंदी का शिक्षण कार्य एवं हिंदी में शोध कार्य प्रचुर मात्रा में हो रहे हैं। यूरोप में हिंदी की यह स्थिति उसके विश्व-भाषा बनने के दोनों को मज़बूती प्रदान कर रही है।

हिंदी आज वैश्विक स्तर पर तीव्रता से अपना पांव पसारते नज़र आ रही है। आज दुनिया भर के अनेक विश्वविद्यालयों और कई छोटे-बड़े शिक्षण संस्थाओं में शिक्षण से लेकर रिसर्च तक की व्यवस्था की गई है। वर्तमान में संसार में लगभग 130 देश ऐसे है, जिसमें भारतवंशी बसे हुए है तथा संसार के लगभग 165 विश्वविद्यालयों अथवा संस्थाओं में हिंदी सीखी-सिखाई जा रही है, ''मानने वाले माने न माने लेकिन पूरी दुनिया में एक अरब से ज़्यादा हिंदी भाषी है। कहीं कमज़ोर हालत में तो कही सशक्त स्थिति में चालीस से ज़्यादा देशों में योजनापरक विस्तार हुआ है। दुनिया के 165 विश्वविद्यालयों अथवा संस्थाओं में हिंदी सीखी-सिखाई जा रही है। हज़ारों विद्यार्थी दुनिया के विभिन्न कोनों से हिंदी के शिक्षण-प्रशिक्षण एवं अनुसंधानपरक पाठ्यक्रमों के लिए भारत में दाखिला लेते है।''[11] विश्व में अधिकांश ऐसे राष्ट्र है, जहाँ भारतवंशी। हिंदी भाषा-भाषी लोग बहुतायत में हैं। कुछ देशों में तो ये लोग शासन-सत्ता में प्रमुख भागीदार के रूप में है। मॉरिशस, फिजी, त्रिनिदाद और टुबैगा, युयाना, सूरीनाम आदि।

मॉरिशस ऐसा देश है जहाँ का प्रधानमंत्री सदा ही एक हिंदी भाषी होता है। मॉरिशस में 'विश्व हिंदी सम्मेलन का सचिवालय' भी स्थित है तथा यहाँ पर दो बार विश्व हिंदी सम्मेलन भी हो चुका है। अनेक कठिनाइयों को सहते हुए भी मारीशस वासियों ने न केवल अपनी संस्कृति एवं धर्म को सुरक्षित रखा बल्कि हिंदी भाषा को भी सुरक्षित रखा, ''वस्तुतः

औपनिवेशिक दमन और उत्पीड़न के बावजूद मारीशस के भारतवासियों ने जिस प्रकार अपनी संस्कृति एवं धर्म को सुरक्षित रखा, उसी प्रकार अपनी भाषा को भी। उन्होंने विदेशी भाषा फ्रेंच और विमिश्रित भाषा क्रियोल को ही स्वीकार नहीं किया, अपितु अपनी सामान्य बोल-चाल की भाषा के रूप में हिंदी को भी बनाये रखा।''[12] मारिशस के कई हिंदी साहित्यकार भारत में भी लोकप्रिय रहे है, इनमें अभिमन्यु अनत बृजेंद्र भगत, मधुकर, भानुमती नागदान, सोमदत्त अखोरी आदि विशेष उल्लेखनीय है। वास्तव में जहाँ-जहाँ भारत वंशी है, वहाँ-वहाँ उन्होंने सांस्कृतिक अस्मिता के रूप में हिंदी भाषा को अपनाया तथा हिंदी को वैश्विक स्वरुप देने एवं संयुक्त राष्ट्र संघ की हिंदी को अधिकारिक भाषा के रूप में दर्जा दिलाने के लिये तत्पर है।

संदर्भ-

1. दंगल झाल्टे, प्रयोजन मूलक हिंदी : सिद्धांत और प्रयोग, 2011, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रस्तावना
2. अरविंद जयतिलक, दायरे से बाहर निकलती हिंदी, दैनिक जागरण, संपादकीय, 14 सितंबर 2012
3. वही
4. वही
5. वही
6. वही
7. विवेक भटनागरण, दायरों के परे हिंदी, दैनिक जागरण, सप्तरंग (साहित्य पुनर्नवा) 10 दिसंबर 2012
8. वही
9. वही
10. वही
11. अशोक चक्रधर, हिंदी को चाहिए अपना निकष, राष्ट्रीय सहारा, हस्तक्षेप, 22 सितंबर 2012
12. डॉ. लता, मारीशस का हिंदी साहित्य, 1992, जय भारती प्रकाशन इलाहाबाद, पृ. 11

पृ. 51 का शेष भाग.....

सहायक ग्रंथ-

1. (सं) दिनेश द्विवेदी, चर्चित महिला कथाकारों की कहानियाँ
2. कुंवरपाल सिंह, हिन्दी उपन्यास : सामाजिक चेतना
3. मंजुल भगत, नालायक बहू, गुलमोहर के गुच्छे कहानी-संग्रह से
4. मंजुल भगत, तीसरी औरत, दूत कहानी-संग्रह से
5. मंजुल भगत, खोज, गुलमोहर के गुच्छे कहानी संग्रह से
6. मंजुल भगत, खोज, दूत कहानी-संग्रह से
7. डॉ. भूतड़ा, समकालीन कहानी में नारी के विविध रूप

हिन्दी विभागाध्यक्ष, हुतात्मा जयवंतराव पाटील महाविद्यालय हिमायतनगर, ता. हिमायतनगर, जि. नांदेड, (महा.)

आदिवासी कविताओं में प्रतिरोध का स्वर

डॉ. एन. टी. गामीत

आदिवासी साहित्य जंगलों में निवास करने वाले मानवों की संस्कृति से जुड़ा साहित्य है। यह साहित्य वन जंगलों में रहने वाले उन उपेक्षितों का साहित्य है। जिनकी ओर समाज व्यवस्था का कभी ध्यान नहीं गया। समाज के अभिजात्य वर्ग की क्रूर और कठोर न्याय व्यवस्था ने जिनकी सैंकड़ों पीढ़ियों को आजीवन वनवास दिया। उस आदिम समूह की मुक्ति का साहित्य है जो युगों से गिरि कंदराओं में रहकर अन्याय को सहन करते रहे है। उनके साहित्य में वेदना है, विद्रोह है और अपने ढंग की अभिव्यक्ति भी है।

यह साहित्य आज तक की अव्यक्त वेदना संसार का प्रत्यक्ष दर्शन कराने वाला साहित्य है। आदिवासी अर्थात् मूल निवासी या किसी भी देश का मूल बांशिदा यानि इस भूमि का पुत्र जो इस धरती और प्रकृति के विकास के साथ ही पैदा हुआ, पला, बढ़ा और जवान हुआ प्रकृति का सहयात्री और सह जीवी। यह संपूर्णतः प्रकृति और जंगलों से जुड़े होने के कारण उसका प्रकृति प्रेम एवं प्रकृतिनिष्ठा दृढ़ तथा विलक्षण जान पड़ती है।

आदिवासी समाज युगों से अन्यायग्रस्त रहा है आज वह मुक्त होना चाहता है। अपनी आदिम परंपराएँ, रीति रिवाज़ आज भी प्रासंगिक है। अपने समुदाय के साथ हो रहे शोषण, अन्याय, अत्याचार के खिलाफ़ प्रतिरोध के लिए आदिवासी साहित्यकारों को बौद्धिक क्षमता और प्रतिभा का अवश्य परिचय देना होगा। आदिवासियों की 'अस्मिता', 'अस्तित्व' और 'स्वत्व' को परस्पर बनाये रखना भी नितांत आवश्यक है। साहित्य समाज का दर्पण ही नहीं बल्कि वह समाज का प्राणतत्त्व आदर्श भी है वह समाज को न केवल चित्र दिखाकर सचेत करता है बल्कि कैसा चित्र होना चाहिए वह आदर्श भी स्थापित करता है, और समाज को प्रखर वाणी भी देता है। इसलिए आदिवासियों की हितचिंतक लेखिका स्मणिका गुप्ता ने उपर्युक्त ही लिखा है-''आदिवासी साहित्य और आदिवासी समाज का संबंध भी अटूट एवं नज़दीकी है। संभवतः आदिवासी समाज से आदिवासी साहित्य अलग रह ही नहीं सकता। आदिवासी साहित्य का एक भाग समझे जाने वाले लोक साहित्य का आदिवासी समाज से बहुत निकट का संबंध है। इस संबंध की सदियाँ गवाह है। यही साहित्य उनकी प्रेरणा प्रवृत्ति तथा जीवन संघर्ष के दर्शन करता है।''[1]

सदियों से साधी गई मूक वेदना की चुप्पी को तोड़कर स्थापितों द्वारा दायरे को विध्वंस करने की चेतना अब आदिवासियों में जन्म ले चुकी है। वह नई-नई युगीन विचारधाराओं और क्रांतियों से परिचित होने लगा है। जिनके परिप्रेक्ष्य में वह अपनी नई और पुरानी स्थितियों को तोलने लगा है। आज शिक्षा के बढ़ते प्रसार से आदिवासी समाज भी थोड़ा बहुत लिख पढ़ रहा है। अब उसने धनुष, तीर, तलवार की जगह कलम को अपना औज़ार बना लिया है। धीरे-धीरे स्थितियाँ बदली है। अब तक आदिवासियों के बारे में दूसरे कहते आयें और आदिवासी समाज उपदेश के रूप में सुनता आया। लेकिन अब आदिवासी लेखक स्वयं नेतृत्वकारी भूमिका अदा कर रहा है। अपने समाज में जागृति लाने का कठिन कार्य कर रहा है।

आदिवासी रचनाओं ने कविताएँ लिखकर अपनी पीड़ा और वेदना को व्यक्त कर प्रतिरोध भी किया है। अपनी अस्मिता, अपने अधिकारों के अस्तित्व की वर्तमान स्थिति अपने साथ हुए भेदभाव व अन्याय का बोध भी जगा है। यही बोध उनके साहित्य में झलक रहा है। आज वह अपनी समस्याओं, अपनी संस्कृति और भाषा और उदास जीवन अभिव्यक्त करने लगा है। भिलोरी (मराठी) भाषा के कवि डॉ. वाहरू सोनवणे की 'स्टेज' कविता के माध्यम से आदिवासी लेखन की उभरती चेतना देखी जा सकती है-''हम स्टेज पर ही नहीं/और हमें बुलाया भी नहीं/उगली के इशारे से हमारी जगह/हमें दिखाई गई/हम वहीं बैठे। हमें शाबासी मिली/ और वे स्टेज पर खड़े हो। हमारा दुःख। हमें ही बताते रहे। ''हमारा दुःख अपना ही रहा। कभी उनका हुआ ही नहीं....हमारी शंकाएं-हम बड़बड़ाए/कान देखकर 'वे' सुनते रहे। और निःश्वास छोड़ा/और हमारे कान पकड़कर/हमें ही धमकाया माफ़ी मांगों नहीं तो....।''[2]

डॉ. सोनवणे की प्रस्तुत कविता आदिवासी समाज की

कसमसाहट को व्यक्त करती है। मनुष्य की सहज प्रवृत्ति अभिव्यक्ति के अधिकार के लिए समाज को हज़ारों वर्षों तक इंतज़ार करना पड़ा। सरकार की विभिन्न योजनाओं का पैसा आदिवासियों के विकास के नाम पर उन तक नहीं पँहुच पाता। विकास के नाम पर शिक्षित समाज उन्हें लूट रहा था। जिसका विरोध कुछ पढ़े-लिखे आदिवासी युवकों और कवियों ने किया है।

प्रकृति के साथ आदिवासी युगों से अन्योन्याश्रित रहे है। प्रकृति उनकी सहचरी है कभी उन्हें हंसाया, कभी रुलाया। किंतु आदिवासियों ने प्रकृति के प्रति कभी विद्रोह रूप नहीं अपनाया। वे प्रकृति के रखवाले हैं जंगल के साथ रहना चाहते है प्रकृति के साथ उनका प्रेम सृष्टि को बचाए रखने का प्रमाण है। आज आदिवासियों को उसी प्रकृति से बदख़ल कर, उससे जंगल, जमीन, फल छीने जा रहे हैं। विडंबना ये है कि ये सब उनके विकास और सुधार के नाम पर किया जा रहा है। आदिवासी कवयित्री ग्रेस कुजूर की कविताएँ विद्रोह, प्रतिरोध की ज्वालाग्नि उगलती है। हज़ारों वर्षों के अपने प्राकृतिक निवास स्थान जंगल को उजड़ते देख उनकी वाणी कह उठती है-''हे संगी।/कयों धूमते हो/झुलाते हुए खाली गुलेल/...क्या तुम्हें अपनी धरती की/सेंधमारी सुनाई नहीं दे रही?/क्या अब भी निहारते हो/अपने को/दामोदर और स्वर्ण रेखा के/काले जल में/किसने की है चोरी/भिनसरिया में ढेकी के संगीत की/और उखाड़ी है किसने/आजी के जाने की कील? 'पुटुस' तक को उखाड़ कर ले जाएँगे लोग। और धन (तुम खोजोगे उसकी बची जड़ो में। अपना झारखंड हंडिया और दारू से सींच कर। क्या किसी ने उगाया है। कोई जंगल?''[3] जंगलों की सुरक्षा से ही आदिवासियों का अस्तित्व बचा रह सकता है। उनके पूर्वजों ने हज़ारों वर्षो से अपने साथ जंगलों को और जंगल के साथ अपने को सुरक्षित रखा किंतु अब दोनों के अस्तित्व का प्रश्न उपस्थित हो गया है इसलिए ग्रेस कुजूर आदिवासी नवयुवकों में प्रतिरोध का भाव जगाते हुए सचेत करती है-''तानो अपना/नहीं हुआ है बोथरा अब तक/'बिरसा आबा की तीर'/कस कर थामो/टहनी पर अटके हुए/सूरज के लाल 'गोढ़ा' को/गला दो अपनी हथेलियों की गर्मी से।''[4]

डॉ. विनायक तुमराम की कविताएँ भी क्रांति और प्रतिरोध की बातें करती है। आदिवासी साहित्य के संदर्भ में स्वयं अपने काव्य-संग्रह 'गोंडवन पेटले आहे' (मराठी) में वह कहते है-''मेरी कविता नहीं मेरी मानसिकता है, यही मेरी अनुभूति है। वनजीवन का जैसा दर्शन हुआ, वैसी ही अभिव्यक्ति हुई है। इस अभिव्यक्ति को कोई क्रंदन कहेगा, कोई अंतर्मन की छटपटाहट कोई भावना का अतिरेक कहेगा, तो कोई पैदा हुए क्रोध के कारण जान-बूझकर शुरू किया गया प्रतिरोध कहेगा। कोई कुछ भी कहे लेकिन जो जैसा है, उसे वैसे ही प्रस्तुत किए जाने की आवश्यकता भी थी। घने जंगलों में ज़िंदगी जीना सही अर्थों में जीना नहीं है, इसका ज्ञान उस जीने वालों को करा देना आवश्यक था, सिर्फ यही समझकर मैंने इस काव्य रूप से उन्हें जगाने का प्रयास किया है।''

कवि विनायक जी अपने आपको कर्ण और एकलव्य की परंपरा से जोड़ते हुए आदिवासियों पर अनादि काल से होने वाले अत्याचार की बात कहते है। विषम व्यवस्था को नष्ट करने के लिए उनकी कविताएँ तलवार की धार की तरह धार-धार होती है। 'गोंडवन पेटले आहे' कविता में भी विचारधारा है कि हज़ारों वर्षों से पहाड़ों और दर्रों में अंधकारमय जीवन जीने वाले आदिवासियों को शोषण से मुक्ति मिले। कवि अपने अनुभव किए हुए और देखे गए दुःख से विद्रोह के स्वर में कह उठते हैं-''मैं जला डालूगाँ प्रस्थापितों के। निर्लज्ज दर्शन को। जो दर्शन मेरी आयु की। जात पूछता है।''[5]

कवि ऐसी बाज संस्कृति का दहन करना चाहते है। प्रस्थापितों की संस्कृति ने आदिवासियों के जीवन को प्रकाशमान नहीं किया, उनका उत्थान नहीं किया, इसलिए उन्होंने इस संस्कृति को धिक्कारा है।

आज आदिवासियों के सामने सबसे बड़ा पेचीदा सवाल अपनी पहचान मिटने का है। आदिवासी की असली संस्कृति और भाषा को मिटाने की साजिशें की जा रही है। इसलिए आदिवासी समाज का प्रबुद्ध वर्ग, बुद्धिजीवी वर्ग, साहित्यकार अपने समाज को एकीकृत करके अपनी अस्मिता, अपने नाम और संस्कृति को बचाने का कार्य करना अपनी एक बहुत बड़ी जिम्मेदारी है। किंतु ठोस काम नहीं होते इसलिए 'सभ्यता' का विस्तार एक हादसा कविता में श्री हरिराम मीणा अपना असंतोष व्यक्त करते है-''देखो! तुम देख रहे हो कि वो आ रहे है/तुम्हारी नसें तन रही है/तुम्हारी भुजायें फड़क रही है/तुम्हारे तीर कमान तने है। तुम एक जुट हो मगर तुम कुछ नहीं कर रहे?'' और फिर उसकी पीड़ा को व्यक्त करता है/-देखों! आख़िर तुम्हें खदेड़ ही दिया न/तुम्हारी जमीन से/तुम्हें नेस्तनाबूद के लिए/पर फिर भी तुम चुप क्यों हो? आख़िर क्यों?।''[6]

आदिवासी कवि अपने अस्तित्व एवं पहचान के संकट में जूझ रहें है। चिंताग्रस्त है, ये चिंता प्रकृति के प्रति नहीं क्योंकि आदिवासी तो प्रकृति का साथी है ये चिंता उनकी अभिजात्य मानव के प्रति प्रकट की गई है। हरिराम मीणा 'ख़त्म होती हुई नस्ल' कविता में अपने भावों को प्रकट करते हुए कहते है-''जहरीले सॉपों से हम खेलते रहे/समुद्री जीवों से रही हमारी दोस्ती। तूफ़ानों से हमारा कुछ नहीं बिगड़ा/यहाँ तक कि/भूकंप

और ज्वालामुखियों ने भी हमें नहीं उजाड़ा। मगर/जिन्होंने हमें गोलियों से भूना/वे इंसान थे/जिंहोंने हमें टापुओं के इधर-उधर खदेड़ा/वे इंसान है/और जो हमारी नस्ल को उजाड़ेगें/वो इंसान होंगे।''[7]

आदिवासी कविता का अहम् मुद्दा अपना समाज एवं ख़त्म होती हुई नस्ल को बचाने का भाव प्रकट हुआ है।

आदिवासी कवि जिस समाज में जन्में, बड़े हुए, पढ़-लिखकर आगे बढ़े उसी समाज के हिस्से में आयी दुरावस्था को देखकर बेचैन दुःखी है। जिस समाज के हित चिंतको ने स्वयं कष्ट झेलकर आदिवासी समाज के लिए अपने प्राण तक न्यौछावर कर दिये उनको हम कैसे भूल सकते है। आदिवासी कवि वर्तमान समाज की स्थितियाँ देखकर अपनी वेदना को वाणी दे रहे है। आदिवासी कवियों को महसूस होने लगा है कि 'बिरसा' और 'सिनगी दई' जैसे वीर और वीरांगना की पुनः आवश्यकता है। आदिवासी युगों से उपेक्षित हाशिये में धकेल दिये गए है/आज शिक्षित हुए तो उन्हें ज्ञात हुआ कि झांसी की रानी ही नहीं बल्कि उनसे भी अधिक वीरांगनाएँ आदिवासियों में हुई है किंतु उन्हें प्रसिद्धि देने में अभिजात्य वर्ग हमेशा कतराता रहा है। 'सिनगी दई' जैसी वीरांगना भी थी, जिसने विदेशियों से टक्कर ली थी। आज़ वही 'सिनगी हुई' आदिवासी महिलाओं के शौर्य का प्रतीक बन गई है। आदिवासी कवयित्री ग्रेस कुजूर उसी से प्रेरणा पाकर शौर्य से भरे शब्दों में कहती है-''और अगर/अब भी तुम्हारे हाथों की/अंगुलियों थरथराई/तो जान लो/मैं बनूंगी एक बार और/'सिनगी दई'/बांधूंगी फेटा/और कसेगी फिर से/'बेतरा' की गांठ/नहीं छुपेगी अब/किसी ग्वालीन की कोई साठ-गांठ/सच!! बहुत ज़रूरत है झारखंड में/फिर एक बार/एक जबदस्त/जनी-शिकार।''[8]

'सिनगी दई' एक ऐसी वीरांगना आदिवासी महिला नेत्री थी जिनके नेतृत्व में झारखंड में रोहतागढ़ के रक्षार्थ आदिवासी महिलाओं ने शौर्य पूर्वक लड़ाई लड़ी थी। तभी से जनी-शिकार की परंपरा आदिवासी महिलाओं में चली आ रही है जिसके तहत मर्दों के कपड़े पहनकर शिकार करने निकलती थी। आज तो आधुनिक युग के प्रभाव में सब महिलाएँ खुलेआम मर्दों के कपड़े पहन सकती है फिर भी 'सिनगी दई' जैसी विरागनाएँ आज क्यों कहाँ चली गई है? उनकी आज़ फिर से ज़रूरत आन पड़ी है आदिवासी समाज के उत्थान के लिए। आदिवासियों के वीर नेता के रूप बिरसा मुण्डा आज भी याद किये जाते है। जिन्होंने अंग्रेज सेना को भी मात देकर जन-चेतन का आंदोलन चलाया था। वीरता शौर्य के साथ क्रांतिकारी कार्य किया था ऐसे वीरों का आज फिर से ज़रूरत है इसलिए कवि भुजंग मेश्राम 'आ मेरे बिरसा' कविता में लिखते हैं-''बिरसा तुम्हें कहीं से भी/आना होगा/धास काटती दर्राती हो या/लकड़ी काटती कुल्हाड़ी/खेत-खलिहान से मजदूरी से/दिशा-दिशाओं से/गैलरी में लाए गोटुली रंग से/कारीगर की भट्टी से/यहाँ-वहाँ से/पूरब-पश्चिम-उत्तर दक्खिन से कहीं से भी आ मेरे बिरसा। खेतों की बयार बन कर। लोग तेरी बाट जोहते।''[9]

वर्तमान समय में स्वार्थी दृष्टिकोण के कारण आदिवासी समाज का संगठन भी ढीला पड़ गया है। सभी ओर से आक्रमणकारी तत्त्व जोर पकड़ रहे है। हर कोई व्यक्ति, समाज, जाति एक दूसरे पर हमला करने, शोषण की साजिशें बलवती हो रही है। ऐसे समय में आदिवासी कवि महादेव टोप्पो अपने आदिवासी समाज की चिंता करते है हमारे समाज को संगठित शिक्षित होने का आह्वान करते है। हो रहे अन्याय, अत्याचारों के विरुद्ध उसे स्वयं लड़ाई, लड़नी होगी, बिरसा और सिनगी दई की भाँति तभी अपेक्षित बदलाव संभव हो पायेगा। 'सबसे बड़ ख़तरा' कविता में कवि कहते हैं-''यही है सबसे बड़ ख़तरा। कि हम अपनी पहचान खो रहे हैं/खो रहे हैं कि हम अपने स्वाभिमान स्वर/न मिमिया रहे हैं न गरज़ रहे हैं/इसी कारण ऊँची अट्टालिकाओं में/पंखों के नीचे 'वे'। हमारी असमर्थता पर मुस्करा रहे हैं। इसलिए मित्र आओ हम पहले/ अपने कंठो में गरजती हुई। आवाज़ भरे।''[10]

निर्मला पुतुल संथाली भाषा की आदिवासी जन-जीवन की जमीन से जुड़ी हुई कवयित्री है। उनकी कविताएँ सवाल पूछती और प्रश्नचिह्न उपस्थित करती हुई आगे बढ़ती है। कवयित्री आदिवासी होने के नाते आदिवासी स्त्री की पीड़ा को बखूबी जानती है। कवयित्री आदिवासी स्त्री की अभिलाषा को मार्मिक ढंग से व्यक्त करते हुए उन अभिजात्य वर्ग के ऐसे पुरुष समाज जो आदिवासी स्त्री को देखते ही नाक-भौ सिकोड़ते हैं। उसे केवल भोग की वस्तु मात्र समझते है और काम के बहाने आदिवासी स्त्री के साथ जबदस्ती शोषण करने वाले लोगों के खिलाफ़ कवयित्री कड़ा विरोध प्रकट करते हुए चेतावनी की मुद्रा में निर्भीकता के साथ पर्दाफास करती है-''ये वे लोग है जो दिन के उजाले में/मिलने से कतराते/और रात के अंधेरे में/मिलने का मांगते हैं आमंत्रण/ये वे लोग हैं जो हमारे ही नाम पर लेकर/गटक जाते है हमारे हिस्से का समुद्र/ये वे लोग है जो मेरी कविताओं में भी तलाशते हैं मेरी देह।''[11]

आदिवासियों के साथ प्राचीन समय से अन्याय, अत्याचाार, शोषण कुचक्र चलते आये है। अभी भी स्थिति में पूर्ण परिवर्तन नहीं आया है। अभिजात्य वर्ग के लोग जो शासन की धूरा संभालते है वह वे आदिवासियों के प्रति हेय दृष्टि से ही पेश आते है। ऐसे सौदागर लोग आदिवासियों की नंगी तस्वीरें खींचकर दिखाते रहते है कि वे खुशी से जीवन बिताते

है, भाग्यशाली है ऐसा चित्र खड़ा करते है, किंतु स्थितियाँ इसके बिलकुल विपरीत है। उनके मूक दर्द को वाणी देने वाला कोई नहीं है। सब लोग झूठी प्रशंसा करके, रंगीन स्वप्न दिखाकर उनकी स्त्रियों के साथ खिलवाड़ कर रहे है, सरेआम बाज़ार में उनका क्रय-विक्रय किया जा रहा है ऐसी स्थितियों को देखकर आदिवासी कवियों में प्रतिरोध, विद्रोह का स्वर फूट रहा है। कवि श्री हरिराम मीणा लिखते हैं-''खींच सर्के वे फोटो। और दिखाते रहे ज़िंदगी भर। कि वे भाग्यशाली हैं। जो देख आये है अण्डमान के/ नंगे आदिवासियों को/अगर कोई बुद्धिजीवी हो उनमें/तो हमें सभ्यता की मुख्यधारा में लाने की पेचीदा बहस में उलझता/अंत में यह निर्णय निकाले। ''इन्हें डिस्टर्ब मत करो। नंगे आदिवासियों का/ऐसा खुला म्युजियम/कहाँ मिलेगा हमें देखने को।''[12]

बहुत ही यथार्थ बात है कि सरकार अण्डमान-निकोबार द्वीप समूहों में रहनेवाले आदिवासी बहुत खतरनाक है ऐसा कहकर वहाँ जाने की पाबंदी लगी हुई है। कोई अकेला नहीं जा सकता समूह में पुलिस के साथ जाने की इज़ाज़त दी जाती है। वाकई में बात कुछ और है जैसे गुलाम के गले में पत्थर बाँध दिया जाय तो बेचारा वह भार उठाकर कैसे खड़ा हो पायेगा? जैसे नवजात शिशु को मूक पशुओं के बीच किया जायेगा तो वह भी मूक पशुओं की तरह व्यवहार करेगा। कि जबतक उसको लोगों के साथ रखा जाय। अण्डमान के आदिवासियों को भी जंगली पशुओं के समान उन्हें बंदी बना दिया गया है कि वह सभ्य समाज में जायेंगे तो आदिवासियों के साथ मुख्यधारा में समाविष्ट हो जायेंगे और अपनी पहचान बना लेंगे, इसलिए न तो उन्हें बाहर निकलने देते है, न तो किसी को मिलने देते है शायद दूसरों के संपर्क में आने से सभ्य समाज में मिल जाय तो ऐसे नंगे आदिवासियों का खुला म्यूजियम कहाँ दिखने मिलेगा हमें। ये सोच अभिजात्य वर्ग को सरकार और अभिजात्य वर्ग चाहता है कि कहीं हमारे से कहीं आगे न बढ़ जाय अधिक विकसित न हो जाय। आदिवासी समाज के प्रति आज भी यही संकीर्ण दृष्टिकोण है।

आज इतना विकास हो रहा है, स्वतंत्रता के 66 वर्षों के बाद भी आदिवासी समाज को अपने अधिकार नहीं मिल पाये है। कवयित्री निर्मला पुतुल आदिवासियों के भोलेपन और सरलता से चिंतित है वह चाहती है आज की जटिल दुनिया को पहचानों समझदारी से काम लेना होगा। अभिजात्य कुटिल लोगों के बहकावे और भुलावे से दूर रहना होगा, जो खाए उसी थाली में छेद करने वह कभी संकोच नहीं करते। ऐसे समाज से सावधान रहना होगा। यदि अब भी उनका समाज एकजुट होकर लड़ाई के लिए नहीं चेता तो उन्हें यथार्थबोध से परिचित कराती हुई क्रांतिकारी स्वर में निर्मलाजी लिखती है-''दिल्ली की गणतंत्र झांकियों में/अपनी टोली के साथ/ नुमाइश बनकर/ कई-कई बार पेश किए गए तुम पर गणतंत्र नाम की/कोई चीड़िया कभी आकर बैठी/तुम्हारे घर की मुंडेर पर?''[13]

आदिवासी हर साल गणतंत्र दिवस पर अपने परिधान में सजकर पेश किए जाते है। उनसे नृत्य करवाये जाते है, मज़ा लूटते है बड़े वर्ग के स्वतंत्र लोग कभी हमने यह सोचा है कि हमें स्वतंत्रता, अधिकार कब मिलेंगे? उसके लिए हमें प्रतिरोध, विद्रोह की कलम चलानी पड़ेगी। क्योंकि अभी और अधिक इंतज़ार करने का कोई मतलब नहीं है। आदिवासियों की स्थितियो को कोई अन्य नहीं बदल सकता, ऐसी स्वप्नमयी जादुई अपेक्षा रखना भी व्यर्थ ही है अब तो उन्हें स्वयं कलम उठानी है। कलम से ही मौसम बदलेगा।

आज आदिवासी शोषण के प्रति सजग होने लगा है। कवियों ने अपनी कविताओं में बदलते हुए स्वर में प्रतिरोध किया है, जिसमें उसके अस्तित्व एवं अस्मिता की पहचान छिपी हुई है। इसलिए कवि महादेव पटोप्पो प्रतिरोध के स्वर में कहते है-''उनकी आकांक्षा को/महुए की बोतल में/डुबोने की हो साजिश। इस जंगल का कवि/भला रहेगा कैसे चुप? वह धनुष उठाएगा। प्रत्यचा पर कलम चढ़ाएगा। साथ में बांसुरी और मांदर भी/जरूर उठाएगा/जंगल के हरेपन को/बचाने की ख़ातिर/जंगल का कवि।''[14]

कवि ने स्पष्ट कहा है लोग भी कहते है सभी को पता है कि आदिवासी एक शराब की बोतल में बिक जाता है। किंतु मित्रों अभी हमें हमारे आदिवासी भाइयों को समझना होगा कि हम कब तक इन साजिशों में फँसते रहेंगे? हमें धनुष उठाना पड़ेगा। आज़ तक आदिवासियों के बारे में ऊपरी, स्वप्न की बातें की जाती रही है। वास्तविकता से हटकर कल्पना लोक का वर्णन किया जाता रहा है। अब आदिवासियों के यथार्थ का परिचय आदिवासी कवि को करना होगा। अपने अन्याय, अत्याचारों के विरुद्ध स्वयं रचने होंगे ग्रंथ। कवि महादेव टोप्पो क्रांतिकारी स्वर में लिखते हैं-''इससे पहले कि/वे पुनः तुम्हारा अपने ग्रंथों में बंदर-भालू या/किसी अन्य जानवर/के रुप में करें वर्णन/तुम्हें अपने आदमी होने की/तलाशनी होगी परिभाषा/ उनके सिद्धांतों/स्थापनाओं के विरुद्ध/उनके बर्बर वैचारिक/ हमलों के विरुद्ध/रचने होंगे/स्वयं ग्रंथ।''[15]

अतः आलोच्य कवियों की कविताओं के माध्यम से स्पष्ट होता है कि आदिवासी ने अपनी मुकवेदना को वाणी देना

शेष पृ. 61 पर.....

जीवन–मूल्यों के क्षरण की दास्तान : रेगिस्तान

डॉ. रेशमा बेगम

कमलेश्वर की किसी भी रचना पर लिखना एक नये अनुभव से गुज़रना है। यह इसलिए नहीं कि उसमें प्रतीकात्मकता होती है, बल्कि न जाने कितने अर्थों का स्वरूप एक साथ चलता हुआ प्रतीत होता है। साहित्य और पत्रकारिता का अद्‌भुत मिश्रण उनकी रचनाओं का वैशिष्ट्य है। एक पूर्ण समर्पित लेखक की भाँति उन्होंने अपने जीवन में कभी भी सिद्धान्तों और जीवन मूल्यों के साथ समझौता नहीं किया है। वे जीवन-भर सांप्रदायिकता, संकीर्णता और जातिवाद के विरुद्ध संघर्ष करते रहे। उनके व्यक्तित्व का यही प्रतिबिंब उनकी रचनाओं में देखने को मिलता है।

'रेगिस्तान' कमलेश्वर की कहानी 'नागमणि' का विस्तारपरक रूप है। यह एक ऐसा यथार्थपरक उपन्यास है जिसमें गांधीवाद और गांधीवादी आदर्शों व नैतिक मूल्यों के सामाजिक यथार्थ का चित्रण है। आज़ादी के समय देश के महान वीरों ने गांधीवादी आदर्शों व नैतिक-मूल्यों पर चलकर अपनी जान गँवा देने में तनिक भी संकोच नहीं किया था। परन्तु वर्तमान युग में गांधीवादी आदर्शों पर चलने वाले भारतीय नागरिक का जीवन ठीक उसी प्रकार 'रेगिस्तान' बनकर रह गया है जिस प्रकार इस उपन्यास के प्रमुख पात्र 'विश्वनाथ' का जीवन।

दरअसल, कमलेश्वर 'रेगिस्तान' उपन्यास के माध्यम से यह संकेत देना चाहते हैं कि देश में जो आदर्श और नैतिक मूल्य स्वतंत्रता से पूर्व थे, उनका आज जैसे क्षरण हो गया है। स्वतंत्रा पूर्व देश की जनता आदर्शों से प्रेरित थी। जनता राष्ट्रीय भावनाओं से ओतप्रोत थी; उसके सामने भारत को स्वतंत्र देखने का एक महान् स्वप्न था। इस स्वप्न को पूरा करने के लिए उनमें समर्पण का भाव था। यही कारण है कि देश के अनेक नौजवानों ने गांधीजी के स्वर में स्वर मिलाते हुए उनके आदर्शों और मूल्यों पर चलने का संकल्प लिया था। राष्ट्रभाषा हिन्दी का प्रचार-प्रसार करने में अपना जीवन लगा दिया था। इन नौजवानों का प्रमुख उद्देश्य देश को अपनी भाषा देना था। देश की भाषा को मान-सम्मान दिलाना था। परन्तु स्वतंत्रता के बाद इस जज़्बे का अस्तित्व ही लुप्त होने लगा। नयी पीढ़ी न केवल घोर स्वार्थी बन रही थी, अपितु वह सांप्रदायिक और उपभोक्तावाद की प्रवृत्तियों की ओर तेज़ी से उन्मुख हो रही थी। साथ ही, वह पाश्चात्य संस्कृति की ग़ुलाम भी बन रही थी। देश की विघटित सामाजिक व्यवस्था और महत्त्वाकांक्षा-केंद्रित राजनीति ने जैसे समाज के श्रेष्ठ मूल्यों का विसर्जन ही कर दिया था। परन्तु एक सच्चा ध्येयवादी, निष्ठावान गांधी-प्रचारक उन सभी विघटनों से टकराता हुआ जब आज़ादी के स्वप्नों को टूटता और बिखरता हुआ देखता है, तो इस नयी व्यवस्था के प्रति तेज़ी के साथ उसका मोह भंग होने लगता है। इसी सत्य को उद्‌घाटित करते हुए कमलेश्वर ने 'रेगिस्तान' की भूमिका में लिखा है-''गांधीवादी आदर्शों के पद-चिह्नों का अनुसरण करने वालों का सामाजिक जीवन क्या उसी तरह 'रेगिस्तान-सा नहीं हो गया जैसाकि इस उपन्यास के प्रमुख पात्र विश्वनाथ का हुआ।''[1]

वास्तविकता तो यह है कि जो आदर्श गांधीवादी युग में अनुकरणीय थे, उनसे आज के समाज ने किनाराकशी कर ली है। लेकिन यह किनाराकशी क्यों की है? यह एक विचारणीय प्रश्न है। देश को आज़ाद हुए लगभग साठ वर्ष बीत चुके हैं फिर भी भारत का अस्तित्व आज न जाने कितने अनुत्तरित सवालों के घेरे में दिखाई देता है। हिन्दी भाषा न केवल भारत के जनसाधारण की पहचान है, बल्कि उनकी मर्यादा व प्रतिष्ठा का विषय भी है। उसे कैसे सम्मान प्रदान किया जाये, यह चिंता का विषय है। स्वातंत्र्योत्तर परिवेश में देश का उच्च व मध्यवर्ग पाश्चात्य प्रभाव से सर्वाधिक प्रभावित हुआ है। वह अपने वर्चस्व को क़ायम रखने के लिए गांधीवादी विचारों और हिन्दी भाषा से किनाराकशी कर अंग्रेज़ी भाषा को महत्त्व दे रहा है। कमलेश्वर ने अपने इस दर्द को विश्वनाथ के दर्द के माध्यम से देश के जनसाधारण को उसकी वास्तविक स्थिति से जोड़ने का प्रयास किया है। विश्वनाथ के शब्दों में ''सोचा तो यही था कि आज़ादी मिलने से पहले ही देश में अपनी भाषाएँ आ जाएं... ताकि देश गूँगा न रह जाये और सब भाषाओं को जोड़ने के लिए

हिन्दी आ जाए...पूरे देश को अपनी आवाज़ मिल जाये...।''[2] परन्तु यह आवाज़ आज तक शून्य में ही भटक रही है। हमारा शासक-वर्ग उस आवाज़ को नहीं सुन पा रहा है। कमलेश्वर इसी खोयी हुई आवाज़ को विश्वनाथ के माध्यम से देश की जनता तक पहुँचाने का प्रयास करते हैं।

विश्वनाथ वर्तमान पीढ़ी के निम्न मध्यवर्ग का प्रतीक है। कमलेश्वर ने विश्वनाथ के माध्यम से इस पीढ़ी के संपूर्ण दुःख व सामाजिक व्यवस्था की क्रूरता को व्यक्त किया है। गांधी-युग के ध्येयनिष्ठ व आदर्शनिष्ठ प्रचारकों की जो दुर्गति आज की सामाजिक व्यवस्था ने की है, उसका जीवंत चित्रण इस उपन्यास में देखने को मिलता है। विश्वनाथ भारत के एक छोटे-से क़स्बे से संबंध रखता है। स्वतंत्रता पूर्व गांधीजी से प्रेरित होकर उसने राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रचार-प्रसार का कार्य सँभाला था और भारत को एक सूत्र में बाँधने की ज़िम्मेदारी भी सँभाली थी, जिसे वह जीवन पर्यन्त करता भी रहा। परन्तु परिणाम शून्य ही था। विश्वनाथ के शब्दों में-''देश को हिन्दी देनी है...सन् तीस में निकला था स्वदेशी स्कूल की मास्टरी छोड़कर हिन्दी प्रचार के लिए और अब लौटा तो देखा जहाँ हिन्दी थी पहले, वहाँ भी हिन्दी नहीं रही है...कहाँ हैं अपनी भाषाएँ? कहाँ है हिन्दी? लोग वैसे ही गूँगे बैठे हैं...उसी जगह पड़े हुए हैं...?''[3] कमलेश्वर ने अपने इसी दर्द को देश की जनता के समक्ष प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

व्यक्ति के मन में स्वाभाविक रूप से जो धुन लगी रहती है, वही धुन उसे चारों ओर सुनायी देती है। 'घर चल', 'खाना खा' आदि पदों में विश्वनाथ का हिन्दी भाषा के प्रति गहरा झुकाव, लगाव, अकुलाहट, बेचैनी और समर्पित भाव स्पष्ट झलकता दिखायी देता है। अपना सम्पूर्ण जीवन हिन्दी भाषा के प्रचार-प्रसार में समर्पित करने के बावजूद अंत में उसकी निष्ठा पर पानी फिर जाता है और उसका सपना टूटकर बिखर जाता है। विश्वनाथ के इस सपने के टूटने का ज़िम्मेदार कौन है? कमलेश्वर प्रस्तुत उपन्यास में इस तथ्य पर कोई प्रकाश नहीं डालते, परन्तु वस्तुस्थिति से यथार्थ को ज़रूर स्पष्ट कर देते हैं और निष्कर्ष पाठकों पर छोड़ देते हैं। देश की चहुँ दिशाओं में स्वतंत्रता के बाद हुए परिवर्तनों को देखकर विश्वनाथ व्यथित हो उठता है। वह उन सभी परिवर्तनों से अत्यंत अचम्भित है कि देश में यह सब कैसे हो गया? वह मन-ही-मन सोचता है-''कि आज़ादी मिलने तक तो हरएक भाषा की बात करता रहा पर सत्ता मिल जाने के बाद यह बदलाव कैसे आ गया था...हिन्दी की गणेशपूजा करके अंग्रेज़ी को चलाये रखने की यह कैसी चाल है?''[4] विश्वनाथ सत्ता के इस खेल को समझ नहीं पाता है और मन-ही-मन पछताता है कि क्या इसीलिए उसने घर-बार छोड़ा था-''जोगी बने-बने क्या इसलिए घूमा था.....यह धूनी आखिर क्यों रमाई थी? हंसा उड़ चल देश बिराने।''[5] इन विपरीत और निराशाजनक परिस्थितियों के बावजूद विश्वनाथ अपने कर्त्तव्य के प्रति उदासीन नहीं हो सका। यद्यपि उसमें हताशा जन्म तो ज़रूर लेती है, लेकिन मन के किसी कोने में आशावादिता का भाव विद्यमान रहता है। यही भाव उसे निराश नहीं होने देता और वह विपरीत परिस्थितियों में भी अपने कर्म के प्रति निष्ठावान रहता है। देश-प्रेम के लिए अब तक किये गये कार्य का यही फल शायद उसके सामने था। वह यह अच्छी तरह जानता था कि इस प्रकार के प्रचारकों की देशवासियों को कोई आवश्यकता नहीं है; लेकिन, फिर भी वह इस काम से मुँह नहीं मोड़ सका। क्योंकि एक सच्चा देशप्रेमी अपने देश की प्रत्येक वस्तु से मोहब्बत रखता है। इसी भाव ने उसे उस स्वार्थी युग में अजनबी और अकेले होने का एहसास करा दिया था। 'रेगिस्तान' उपन्यास वर्तमान सामाजिक, राजनैतिक व सांस्कृतिक व्यवस्था से आहत व्यक्ति के जीवन का चित्र प्रस्तुत करता है। विश्वनाथ ने आज़ाद देश की अपनी भाषा और अपने राज को लेकर जो सपना देखा था, उसे टूटता हुआ देखकर वह इतना पीड़ित होता है कि प्रतिक्रिया स्वरूप वह हिन्दी की जगह अंग्रेज़ी बोलने लगता है। ''कोई सलाम करे तो गुडबाई बोलता है, कोई नमस्ते करे तो गुडमॉर्निंग-गुडईवनिंग बोलता है।''[6] वर्तमान पीढ़ी की बदलती हुई मानसिकता को देखकर वह धीरे-धीरे अपना मानसिक संतुलन खो बैठता है और अस्वस्थ हो जाता है। 'रेगिस्तान' में विश्वनाथ की स्थिति बड़ी करुण व त्रासद है। इसके लिए कमलेश्वर देश की राजनैतिक, सामाजिक व सांस्कृतिक व्यवस्था को ही ज़िम्मेदार ठहराते हैं।

कमलेश्वर स्वतंत्र भारत की बदली हुई मानसिकता को यथार्थ के धरातल पर विश्वनाथ के माध्यम से उजागर कर देते हैं-''आज़ादी के बाद हिन्दी ही नहीं, गांधीजी का आदर्श भी समाज के हाशिये पर चला जाता है। नयी पीढ़ी एकाएक भारतमाता, गांधीजी, सुभाषचन्द्र बोस और हिन्दी को अप्रासंगिक मान बैठी है।''[7] देश में ध्येयवादी गांधी प्रचारक की निष्ठा की क्या त्रासदी है, इसका जीवंत चित्रण कर उपन्यासकार समाज के सामने एक चुनौती प्रस्तुत करता है। विश्वनाथ सारे आदर्शों व ध्येयों का प्रतीक है। उसके माध्यम से कमलेश्वर ने समाज के किसी एक व्यक्ति के दर्द की बात नहीं की है, अपितु सम्पूर्ण समाज के बिखराव की बात कही है। इस संदर्भ में सूर्यानारायण रणसुम्भे का कहना है-''व्यक्ति और उसके परिवेश में एक संघर्ष होता है और उस संघर्ष में व्यक्ति अंततः अकेला व निःसहाय हो जाता है।''[8] कमलेश्वर इस सामाजिक परिवेश पर व्यंग्य करने में ज़रा भी नहीं हिचकते, क्योंकि इस पतनशील

सामाजिक परिवेश में आदर्श और श्रेष्ठ मूल्यों के लिए संघर्षरत व्यक्ति का जीवन रेगिस्तान बन जाता है।

भारत को आज़ाद हुए आज साठ वर्ष बीत चुके हैं। वर्तमान परिवेश में उपभोक्तावाद-पूँजीवाद अपना वर्चस्व स्थापित करने में लगा है। हिन्दी के प्रचार-प्रसार का भविष्य भी आज कोई उज्ज्वल नहीं दीख रहा है। यद्यपि हिन्दी के नाम पर आज विविध कार्यशालाएँ और कार्यक्रम सम्पन्न हो रहे हैं, परन्तु भारत आज भी अंग्रेज़ी का ग़ुलाम बना हुआ है; जो एक चिंता का विषय है। उपन्यास के माध्यम से कमलेश्वर इसी भयावह यथार्थ को प्रस्तुत कर देते हैं, जिसे हम नकार नहीं सकते। परिवेश और व्यक्ति के संघर्ष के बीच इंसान कितना अकेला व निःसहाय पड़ जाता हैं, यह देश के वर्तमान युग का एक खरा सत्य है। जिस देश व समाज में ध्येयवादी व आदर्शवादी मूल्यों का अनुसरण करने वाले व्यक्ति को प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं होती, उस देश व समाज के भविष्य के प्रति अनेक प्रकार की चिंताएँ उभरकर सामने आने लगती हैं। ऐसी ज्वलंत समस्या के प्रति समाज व देश का ध्यान आकृष्ट करना ही उपन्यासकार का प्रमुख लक्ष्य रहा है।

सन्दर्भ-

1. कमलेश्वर, कमलेश्वर के दस पूर्ण उपन्यास (रेगिस्तान), पृ. 672, रामपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली 06, संस्करण 2003
2. वही, पृ. 679
3. वही, पृ. 679
4. वही, पृ. 698
5. वही, पृ. 699
6. वही, पृ. 711
7. वही, पृ. 681
8. सूर्यनारायण रणसुम्भे, कहानीकार कमलेश्वर संदर्भ और प्रकृति, पृ. 77, पंचशील प्रकाशन, जयपुर 1997

एसोशिएट प्रोफेसर हिन्दी विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय अलीगढ़

पृ. 58 का शेष भाग....

प्रारंभ कर दिया है और यह सिलसिला निरंतर जारी है आदिवासी लेखन अपने प्रारंभिक दौर से आगे बढ़ा है तथा साहित्य की अन्य विधाओं में भी अपनी उपस्थिति दर्ज करा रहा है। युगीन संवेदना को वाणी देने वाले यह आदिवासी कवि अपनी आचंलिक संस्कृति के प्रबुद्ध शिल्पी है। आज आदिवासी कवि वेदना और विद्रोह का स्वर अपने साहित्य में बड़े पैमाने पर व्यक्त करने लगे है। आदिवासी साहित्य को समझना और समझाना आज बहुत ज़रूरी है। आज की नई पीढ़ी का आदिवासी युवक, हाथ में लेखनी लेकर आज तक के साहित्य ने उन्हें जो नहीं दिया अथवा जो उनका सही तरीके से चित्रण नहीं हुआ, उन सारी बातों का चित्रण कर रहा है। वह अपने बारे में, अपने समाज के सुख-दुःख के बारे में लिख रहा है। यह इस बात का प्रतीक है कि समाज परिवर्तन की ओर अग्रसर हो रहा है।

संदर्भ-

1. (सं.) रमणिका गुप्ता, आदिवासी साहित्य यात्रा, पृ. 28
2. (सं.) रमणिका गुप्ता, आदिवासी स्वर और नई शताब्दी, पृ. 101
3. वही, पृ. 22
4. वही, पृ. 22
5. डॉ. विनायक तुमराम, गोंडवन पेटले आहे संग्रह में से
6. आदिवासी स्वर और नई शताब्दी, पृ. 33
7. वही, पृ. 28
8. वही, पृ. 23
9. वही, पृ. 111
10. वही, पृ. 50-51
11. वही, पृ. 77
12. वही, पृ. 31-32
13. वही, पृ. 75
14. वही, पृ. 47-48
15. वही, पृ. 48

एसोसिएट प्रोफ़ेसर, हिंद भवन, सौराष्ट्र विश्वविद्यालय, राजकोट 360005

इस्लाम की रोशनी में स्त्री विमर्शः खुदा की वापसी

डॉ. इकरार अहमद

नासिरा शर्मा स्त्री विमर्श की प्रमुख कथाकार हैं। उनका स्त्री विमर्श इसलिए और भी प्रासंगिक हो जाता है कि वह मुस्लिम महिलाओं की समस्याओं पर ध्यान केन्द्रित करती हैं। आजकल मुस्लिम महिलाओं के हितों की चर्चा करते हुए इस्लाम को कोसना एक फैशन बन चुका है। हंस प्रायोजित मुस्लिम लेखिकाओं (किसी के नाम की ज़रूरत नहीं) का लेखन बम की तरह प्रकट होता है जो मुस्लिम नारी की समस्याओं से अधिक इस्लाम के सिद्धान्तों पर बमबारी करती हैं। इस्लाम धर्म ही नहीं किसी भी धर्म के सिद्धान्त सामाजिक समरसता की बात करते हैं, भले ही उनके व्याख्याकारों ने उनका व्यावहारिक रूप विकृत कर दिया हो। इन परिस्थितियों में नासिरा शर्मा का कहानी-संग्रह 'खुदा की वापसी' मुस्लिम महिलाओं की समस्या और समाधान के दस्तावेज के रूप में प्रकट होता है। वह मुस्लिम स्त्री के उन अधिकारों को पहले पाना चाहती हैं जो इस्लाम ने दिये हैं। इसके लिए शरीयत की जानकारी के साथ आत्मनिर्भर होना पड़ेगा। कहानी-संग्रह के निवेदन में उनका मत दृष्टव्य है- ''यदि औरत को अपनी लड़ाई खुद लड़नी है तो फिर अपने लिए बनाये शरीयत कानून का पूरा ज्ञान और देश के अन्य धर्म-कानूनों को भी जानना ज़रूरी है, तभी वह अपनी लड़ाई लड़ सकती है और एक-दूसरे की मदद कर सकती है वरना दूसरों के भरोसे रही तो उसको वही मिलेगा जो दूसरे उसे देना चाहेंगे।''[1]

धर्म की ओर मुड़कर स्त्री के अधिकारों की खोज एक महत्त्वपूर्ण आयाम है। ऐसे समय में जबकि धर्म की बात करने मात्र से बहुत से विद्वान नाक भौं सिकोड़ते हैं और इसे दकियानूसी विचार मानते हैं। स्त्री विमर्श के प्रायः रचनाकार और आलोचक धर्म को स्त्री की प्रगति में बाधा मानते हैं। वहीं नासिरा शर्मा धर्म को समझने का आह्वान करती हैं- ''आज धर्म को समझना हमारे लिए बेहद ज़रूरी हो जाता है क्योंकि उसका गलत प्रयोग इन्सानों की ज़िन्दगी को बेहद दुश्वार बना रहा है। इसलिए मेरे लिए ये कहानियाँ लिखना बहुत ज़रूरी था, ताकि मैं वह सारे कानून जो इन्सान के फायदे में जाते हैं, उन्हें अपने लेखन का माध्यम बना साहित्य द्वारा एक नये संघर्ष की शुरुआत कर सकूँ और उस 'ऐन्शण्ट विज्डम' से लाभ उठा सकूँ जो हमारा अतीत है और वर्तमान पर बुरी तरह हावी है।''[2]

धर्म, वह भी इस्लाम जिसे आज पूरी दुनिया आतंकवाद का पर्याय समझती हो और फिर ऊपर से आचार्य शुक्ल, प्रताप नारायण मिश्र और राम विलास शर्मा का परम्परावादी-ब्राह्मणवादी हिन्दी समाज। हिन्दी साहित्य की इस परम्परा में हस्तक्षेप करते हुए इस्लाम धर्म में स्त्री अधिकारों की खोज करना बहुत बड़ा जोखिम है। इस जोखिम को उठाने का साहस नासिरा शर्मा जैसे कथाकारों में ही हो सकता है और फिर स्त्री अधिकारों की चर्चा करते हुए कोई बात धर्म के व्याख्याकारों को बुरी लगी तो फतवे का खतरा अर्थात् दुधारी तलवार पर चलना। इस जोखिम भरे कार्य के लिए इस्लाम का गहन अध्ययन और तर्कशील दृष्टिकोण आवश्यक था जो इनके व्यक्तित्व और कृतित्त्व में स्पष्ट दिखायी देता है।

पैगम्बर ए इस्लाम का मेराज में खुदा से मिलने का वृत्तान्त और वहाँ स्त्री का पक्ष वह इस प्रकार प्रस्तुत करती हैं- ''पैगम्बर बर्राक नामक घोड़ी पर सवार हो खुदा से मिलने गये थे, जिसके लम्बे-लम्बे बाल, जेवरों और सिर पर रखे ताजवाला औरत का चेहरा था और बाकी धड़ घोड़े का था, जिस पर दो सफेद पंख लगे हुए थे। यहाँ पर प्रश्न उठ सकता है कि अरबी घोड़ा ताकत और फुरती में कई बुलडोजरों के बराबर आँका जाता है। फिर यह जिम्मेदारी 'मादा' ने क्यों निभायी।''[3]

इस कहानी-संग्रह में कुल नौ कहानियाँ संग्रहित हैं और सभी के मुख्य पात्र स्त्री हैं और वह भी सभी मुस्लिम समाज से ताल्लुक रखती हैं। प्रत्येक कहानी में कुछ पात्र स्त्री के अधिकारों के पक्ष में खड़े हैं और कुछ विपक्ष में। जो स्त्री के पक्ष में हैं उन्हें नायक के रूप में प्रस्तुत किया गया है और जो स्त्री के विरोध में हैं वह खलनायक की भूमिका का निर्वाह करते हैं। यह उचित भी है क्योंकि जो मज़लूमों के साथ खड़ा होता है वही इतिहास में नायकत्व पाता है। चूंकि इस्लाम धर्म के माध्यम से स्त्री अधिकारों की बात इन कहानियों में की गयी

है इसलिए धर्मगुरुओं का कथा मे पात्र के रूप में होना आवश्यक है। यहाँ भी मौलाना वर्ग दो प्रकार के हैं- एक वे जो इस्लाम की गहरी पकड़ रखते हैं और खुले दिमाग से इस्लामी कानूनों की निरपेक्ष व्याख्या करते हैं और दूसरे परम्परावादी पुरुष वर्चस्व के समर्थक। मुस्लिम स्त्री की समस्याओं जैसे शरीयत कानून, मेहर, तीन तलाक, इद्दत, घर में अपशकुन माना जाना, परम्परावादी सोच इत्यादि से यह कहानियाँ जूझती हैं। इन समस्याओं का समाधान जो इस्लाम के सिद्धान्तों में पहले से ही स्त्री के पक्ष में हैं, को इन कहानियों के माध्यम से उजागर किया गया है।

'खुदा की वापसी' में मेहर की रकम का प्रश्न भावनात्मक रूप से प्रस्तुत किया गया है। जब भी मुस्लिम समाज में शादी हो तो दो बातों की चर्चा अवश्य होती है- एक खाने की और दूसरी मेहर की। लड़की वाले मेहर की रकम को अधिक से अधिक और लड़के वाले कम से कम पर तैयार होते हैं। इसी समय लड़के पक्ष को शरीयत याद आती है और पैगम्बर के समय के मेहर की रकम को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करते हैं। अन्त में यह कहकर निपटारा हो जाता है कि कौन देता है और कौन लेता है? शादी के बाद लड़का प्रायः मेहर की अदायगी न करके माफ करवाता है। जुबैर के पास धन की कोई कमी नहीं है लेकिन फिर भी वह फरजाना से मेहर माफ करने का आग्रह इन शब्दों में करता है- ''देखिए अगर आप मेहर के रुपये चाहती हैं तो मुझे कोई एतराज नहीं है, हम बिजनेस क्लास वाले हैं। चेक अभी काटकर आपके हवाले कर सकता हूँ, मगर बात कुछ और है। वह औरत शौहर के लिए बहुत मुबारक होती है जो पहली रात अपने शौहर का मेहर माफ कर दे। वह बड़ी पाक दामन समझी जाती है।''[4]

फरजाना दबाव में आकर मेहर की रकम माफ तो कर देती है लेकिन उसकी भावनाओं को ठेस पहुँचती है। इस्लाम का गहराई से अध्ययन करते हुए वह जुबैर को सबक़ सिखाने का मन बना लेती है। मौलवी अली इमाम और मौलाना वहीदुद्दीन जैसे पात्र फरजाना के समर्थन में खड़े होते हैं। मौलवी अली इमाम शादी और मेहर का सम्बन्ध इन शब्दों में प्रकट करते हैं- ''गलत बिल्कुल गलत ....मेहर का मतलब है- प्यार-मोहब्बत, न कि.......लाहौल.........ये सारी बेकार की बातें हैं। सच्चाई से इनका दूर का भी वास्ता नहीं है।'' अली इमाम ने खंखारा, फिर कहा, ''शादी कानूनी तौर से यानी इस्लामी तौर पर वैध मानी जाए, इसके लिए चार चीज़ों का होना ज़रूरी है- पहला, लड़की की मरजी पूछी जाए, वह शादी के लिए राजी है? दूसरे दो गवाह हों, जो मर्द हों। यदि मर्द नहीं हैं, तो फिर एक मर्द के बराबर दो औरतों की गवाही मानी जाएगी। निकाह सबके सामने होना ज़रूरी है, मेहर का होना तो अत्यन्त ज़रूरी है, क्योंकि उस वायदे का 'टोकन मनी' या शगुन है, जो उसने पूरी ज़िन्दगी औरत की देखभाल के लिए किया है।''[5]

फरजाना का भाई फ़ीरोज़ भी परम्परावादी सोच से हटकर आधुनिक विचारों का है और वह अपनी बहन का समर्थन करता है। लेकिन वह जुबैर की ओर से भयभीत भी रहता है। मेहर का प्रश्न नाज़ुक होता है क्योंकि वह स्त्री-पुरुष सम्बन्धों का प्रारम्भिक आर्थिक आधार होता है। पति-पत्नी सम्बन्धों का सबसे बड़ा दुर्भाग्य तब होता है जब दोनों अपने अहं की तुष्टि इन सम्बन्धों में करने लगें। ज्ञान चाहे शास्त्र का हो या शस्त्र का, अर्थ का हो या कला एवं संस्कृति का प्रेम से ऊपर नहीं हो सकता। कहानी का अन्त यहीं पर खटकता है कि यदि दोनों पक्ष थोड़ा-सा भी झुकते तो कहानी का अन्त सुखद होता। स्त्री और पुरुष गाड़ी के दो पहिये हैं और उनमें सामंजस्य होना ज़रूरी है परन्तु मेहर का प्रश्न है ही ऐसा जहाँ सामंजस्य बिखर जाता है।

'चार बहनें शीशमहल की' महिला सशक्तीकरण की उद्घोषणा करती हैं लेकिन पुरुष वर्चस्ववाद उनका पीछा नहीं छोड़ता है। करीम के बेटे शरीफ के घर चार लड़कियाँ जन्म लेती हैं। तीसरी लड़की का जन्म करीमन पर पहाड़ की तरह टूट पड़ा और उनकी स्थिति प्रत्येक भारतीय परिवार से समानता रखती है। लड़की के जन्म पर सर्वाधिक दुख नवजात बच्ची की दादी को होता है। यह दृश्य यहाँ भी उपस्थित है- ''शुक्र तारे के डूबते ही बच्चे के रोने की आवाज़ के साथ बधाई की झड़ी लग गयी। मगर यह देखकर हँसती, इतराती करीमन को साँप सूँघ गया कि दाई के हाथों में लड़के की जगह नंग-धड़ंग लड़की थी। करीमन का चेहरा देख सोहर गाती औरतें ठिठक गयीं। नवजाद का रोना बन्द होते ही करीमन की रुकी रुलाई फूट पड़ी।''[6]

इस कहानी में शरीफ, करीम, रेशमा और महल्का स्त्री पक्ष के पात्र हैं तो करीमन, अब्दुल और नदीम स्त्री विरोधी। लड़की की सुरक्षा सबसे बड़ा प्रश्न है, जो आज से पहले भी था और फिलहाल आगे भी रहेगा। 'लड़की अपने ही घर में असुरक्षित है' इस कथन पर समाज शास्त्री और आदर्शवादी विचारक कितना ही वाणी-विलास कर लें लेकिन यह सत्य है। छोटी जब अपने चाचा नदीम को उपहार देने जाती है तो नदीम उसके साथ बलात्कार का प्रयास करता है। नदीम की माँ महल्का का चरित्र आदर्शवादी है और अनुकरणीय भी। नदीम की इस हरकत को देखकर महल्का का कथन दृष्टव्य है- ''काश! धरती फट जाती और मैं समा जाती उसमें....कम से कम यह दिन तो न देखती। लड़कियाँ अपने घर में भी महफूज

नहीं हैं, न बाप-दादा से न चाचा-भतीजे से....अरे कम्बख़्त, तूने उसे गोदी खिलाया है।'' महल्का ने गम में डूब अपमानित स्वर में कहा और अपना कान पकड़ गालों पर तौबा के थप्पड़ जोर-जोर मारे।''[7]

इतना ही नहीं महल्का इस घटना को भुला नहीं पाती और अपने बेटे नदीम से उसे घृणा हो जाती है। पुत्र तो माँ से नफरत कर सकता है लेकिन माँ नहीं। परन्तु यह घटना है ही ऐसी कि प्रत्येक माँ को ऐसे पुत्र से घृणा करनी चाहिए। स्त्री अस्मिता को कुचलने वाला बलात्कारी पुत्र उस माँ का सबसे बड़ा दुर्भाग्य होता है। इस दुर्भाग्य का सामना महल्का डटकर करती है और उसकी स्थिति बहुत स्पष्ट है- ''नदीम ज़िन्दगी की आखिरी साँसें ले रहा है। कई बार गुस्से में आकर कसम खा चुकी है कि वह नदीम का दूध नहीं बख़्शेगी।''[8]

चारों बहनें अपने पैरों खड़ा होने का प्रयास करती हैं और सफल भी होती हैं लेकिन पुरुष वर्चस्ववाद का शिकार हो जाती हैं। इतिहास में जितनी भी लड़ाइयाँ हुई हैं वह अधिकांशतः पुरुषों के बीच हुई हैं लेकिन उनका खामियाजा महिलाओं को ही भुगतना पड़ा है। अपने दुश्मन के घर की स्त्रियों पर जुल्म करना पुरुष मन का सबसे प्रिय शगल है और आसान भी। अपने चचेरे भाइयों अकरम और अकील की दुश्मनी का शिकार वह चार बहनें बन जाती हैं- ''आँखों से टूटते तारों को पोंछते हुए शरीफ पुरसे में जमा होती भीड़ को ताक रहा था। आज न हिजड़े नाच के नेग मांग रहे थे न देगों से सुगन्ध के बादल उठ रहे थे। उनकी तसल्ली से बौखलाया-सा शरीफ जैसे सबसे पूछना चाह रहा हो कि यह लड़ाई तो राजू और जुगनूशाह की थी। बात अब्बासी रण्डी की कोठी की थी। फिर अकरम और अकील की जगह मेरी चारों बेटियाँ इस लड़ाई में कैसे शामिल हो गयीं....आखिर कैसे?''[9]

'दहलीज' तीन बहनों सकीना, शाहीन और हुमैरा की कहानी है। जहाँ इन लड़कियों के माता-पिता सामिन और इज़हार इन्हें प्रोत्साहित करते हैं तो वहीं इनका भाई जावेद और दादी हतोत्साहित। दादी दकियानूसी विचारों से ग्रस्त हैं और फ़ीरोज़ की तरह प्रत्येक भाई बहन फरजाना का हमदर्द नहीं होता है। जावेद पुरुष वर्चस्ववादी मानसिकता से ग्रस्त हैं और वह अपनी बहनों के पढ़ने और नौकरी करने पर पाबन्दी लगाता है। बहन और भाइयों के तीखे संवाद इसका प्रमाण हैं- ''जावेद भाई क्या करते हैं सारे दिन? हर बात पर हम पर हुक्म चलाते हैं। यह कॉलेज न जाकर 'डिम्पी' में बैठते हैं। दादी इन्हें खूब पैसे देती हैं, जबकि हमें किताब खरीदने पर भी पाबन्दी है।'' हुमैरा तैश में बोली। ''मरदों से मुकाबला करने वाली हर लड़की घटिया और बदतमीज होती है।'' जावेद अपने ऊपर काबू नहीं रख पाया।''[10]

तीनों बहनें अपने जीवन को अपनी तरह से जीतीं हैं। स्त्री के जीवन के यही तीन मार्ग हैं। सकीना का विवाह अशिक्षित परिवार में हो जाता है और वह सारी ज़िन्दगी अभिशप्त जीवन जीने को मजबूर है। दूसरा रास्ता शाहीन चुनती है आत्महत्या का और तीसरा मार्ग है संघर्ष का जिस पर हुमैरा चलती है और लक्ष्य को प्राप्त भी करती है। यह संघर्ष कठिन है क्योंकि हुमैरा के संघर्ष का मार्ग पुरुष वर्चस्ववाद की तंग गलियों से गुज़रता है। हुमैरा के विचार और कर्म ही नारी मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करते हैं।

'दिलआरा' कहानी मुख्य रूप से दिलआरा और जमाल के प्रेम की कहानी है। इस प्रेम कहानी का अन्त आदर्शवादी फ़िल्मों की तरह नहीं बल्कि सामाजिक यथार्थ से होता है। इस कहानी का एक प्रमुख पात्र है साजदा बेगम, जो उम्रदराज हैं, विधवा हैं और निःसन्तान भी। परन्तु उनका साहस स्त्रियों को संघर्ष की प्रेरणा देता है। उनके इस संघर्ष का प्रेरणास्रोत इस्लाम की शिक्षाएं हैं। मौलाना अकरम का पुरुष वर्चस्ववादी मन एक स्त्री को इस्लाम की व्याख्याकार के रूप में स्वीकार नहीं कर पाता है। प्रो. वर्मा, साजदा बेगम के इल्म की कद्र करते हैं और उनके विचारों से सहमत हैं। वहीं मौलाना अकरम और साजदा बेगम के विचार एक दूसरे से भिन्न हैं। पुरुष वर्चस्ववाद का विरोध वह मौलाना अकरम से इस प्रकार करती हैं- ''बात औरत को बाहर निकालने या मरद के इन्सान समझकर उसकी पूरी शख़्सियत की है। उसको वह सारे हक मिलने चाहिए जिससे वह अपनी दिमागी और जज्बाती ज़रूरतों को पूरी कर सके और एक सेहतमन्द नज़रिये के साथ वह इस दुनिया के हर फैसले में शामिल हो सके। मगर आप लोग तो वह हक भी नहीं देना चाहते हैं जो उसे चौदह सौ साल पहले मिल चुके हैं, बस उसके लिए रूहानी तौर पर तहखाने-दर-तहखाने तैयार किये जाते हैं।''[11]

'पुराना कानून' दो प्रकार का है एक तीन तलाक़ का और दूसरा जाति का। अफसाना का पति शमीम दूसरी लड़की रुबीना की ओर आकर्षित हो जाता है। वह अफसाना से पीछा छुड़ाना चाहता है और अन्ततः प्रचलित तीन तलाक का पुराना कानून उसे स्त्री शोषण के अस्त्र के रूप में मिल जाता है। इस तीन तलाक के कानून की वैधानिकता और उसकी ऐतिहासिकता का सत्य इस प्रकार उजागर किया गया है- ''कहते हैं सीरिया और मिश्र से लड़ाई के चलते बहुत-सी कैदी औरतें मदीना आयी थीं। उन्हें देखकर मरदों ने उनसे शादी करना चाहा और अपनी बीबियों को तड़ातड़ तीन बार तलाक, तलाक, तलाक कह उनसे आज़ादी हासिल कर ली। यह जमाना पैगम्बर साहब

के बाद का था। वरना उनकी ज़िन्दगी में ऐसा कदम कोई नहीं उठा सकता था।''[12]

एक पुराना कानून जाति का है जिसके सामने कई बार व्यक्ति और सरकार असहाय नज़र आते हैं। खाप पंचायतों का अमानवीय न्याय आज सरकार और कानून को ठेंगा दिखा रहा है। परन्तु यहाँ अफसाना को न्याय इसी जाति के कानून से मिलता है। माली जाति की पंचायत में जब शमीम पर अपनी पत्नी अफसाना को साथ रखने का दबाव डाला गया तो उसकी स्थिति दयनीय हो जाती है- ''इस जोर दबाव और तनाव में शमीम की काँच ढीली हो गयी। उसके तेवर नरम ....टूटा और महसूस हुआ कि वह मोहब्बत की बाजी हार गया। सर झुकाये शर्मिन्दा बैठा रहा। ... भी किस बलबूते पर? लाठियों से मार-मार उसकी खाल में भूसा भरने लोग खड़े थे।''[13]

'दूसरा कबूतर' गनीमत है कि संख्या चार तक नहीं पहुँची। पुरुषों को चार 'शादियों की अनुमति के प्रश्न को लेकर इस कहानी की रचना हुई है। बरकत उर्फ शहाब दो नामों से दो शादियाँ कर लेता है। उसकी पहली पत्नी रुकइया से तीन बच्चे भी हैं फिर वह रुकइया को बिना बताये सादिया से शादी कर लेता है। बरकत उर्फ शहाब की नागरिकता ब्रिटिश है और वह सऊदी अरब में नौकरी करता है। सऊदी अरब में महिलाओं की दयनीय स्थिति और इस्लाम की मनमानी व्याख्या करके पुरुष अपना वर्चस्व बनाये रखने में है- ''रुकइया ने सो गये बेटे को बेबी-काट में लिटाया और किचन की तरफ बढ़ी। बेटियों के लिए दूध के साथ फल काटते हुए सोच रही थी कि यहाँ किससे शहाब का रोना रोया जाये? यहाँ तो सभी हमाम में नंगे हैं। जंगल का कानून है। किसी की तीन तो किसी की चार बीबियाँ ...उन्हें चार बीवियाँ रखने की इज़ाज़त किन हालात और शर्तों पर दी गयी है, उसका उन्हें इल्म नहीं है।''[14]

शहाब की पहली पत्नी पाकिस्तानी है और दूसरी भारतीय। इस त्रिकोणीय कहानी में भारतीय उपमहाद्वीप की मुस्लिम स्त्रियों की वेदना का चित्रण है। कहानी का अन्त बहुत उचित है। जब दोनों पत्नियाँ बरकत उर्फ शहाब को छोड़ देती हैं और पुरुष आतंक से मुक्ति का सन्देश देती हैं।

''बचाव' विधवा की समस्याओं और उसके पुनर्विवाह का सामाजिक यथार्थ है। अशरफ की मृत्यु के बाद उसके भाई बदली और उसके बच्चों को घर से निकाल देते हैं। बदली अपने भाई के घर आकर अपने बच्चों के अधिकार का मुकदमा लड़ती है। वकील के भाई आरिफ से बदली का दूसरा विवाह हो जाता है। हिन्दू धर्म एवं तथाकथित उच्च वर्ण में विधवा पुनर्विवाह पर धर्म और जाति आड़े आते हैं परन्तु इस्लाम धर्म और मुस्लिम समाज में यह समस्या नहीं है। प्रायः विधवा पुनर्विवाह पर आकर ही स्त्री की समस्या समाप्त मान ली जाती है। परन्तु पुनर्विवाह के पश्चात् स्त्री की भावुक मानसिकता और माँ की ममता पर सूक्ष्म दृष्टिपात नासिरा जी ने किया है। पहले पति से जन्मे बच्चे चीकू और गोली और उनसे जुड़ी माँ का प्रश्न विचारणीय है। माँ अपने बच्चों को अपने से अलग नहीं कर सकती है। बदली और उसकी भाभी रेहाना का संवाद पुनर्विवाह के पश्चात् स्त्री की इस समस्या को केन्द्रित करते हैं- ''जानती हूँ तुम मुझे और गोली, चीकू को बहुत प्यार करती हो ...मगर भाभी, अब तुम इन दोनों के लिए अपने दरवाज़े बन्द रखोगी, यही कहने मैं आयी थी।'' बदली ने इतना कह होठ भींचे।
''यानी?'' रेहाना सकपका गयी।

''मैं नहीं चाहती कि हक-हिस्से की तलवार मेरी ममता को दो फाँक कर दे।''[15]

'मेरा घर कहाँ' स्त्री के घर की खोज करती है। यह कहानी निम्नवर्गीय परिवारों में स्त्री की दयनीय दशा का चित्रण करती है। लाली धोबिन और उसकी पुत्री सोना जैसी स्त्रियाँ दर-दर की ठोकर खाने को मजबूर हैं। दिगम्बर दादा और नन्कू दोनों स्त्रियों लाली और सोना से विवाह तो करते हैं परन्तु अन्त तक निर्वाह नहीं कर पाते है। तीनों विधवाएं भी सोना का साथ न देकर नन्कू का साथ देती हैं और कोठी का मालिक सोना की देह से खेलना चाहता है। एक प्रश्न यहाँ यह भी है कि गाँव का रमजान धोबी शहर में आकर घनश्याम बनकर जीने को क्यों मजबूर है? क्या रमजान बने रहकर उसे वहाँ काम नहीं मिलेगा? क्या उसके नाम को जानकर कोठियों वाले लोग उससे अपना कपड़ा प्रेस नहीं करवाएंगे? जो भी हो रमजान उर्फ घनश्याम प्रेस वाले सोना की मदद करते हैं। सोना अब पुरुष मानसिकता से थक जाती है तो वह स्वतन्त्र जीवन जीने का फैसला करती है और निम्न वर्गीय स्त्रियों को मुक्ति की राह का सन्देश इस प्रकार देती है- ''...मजदूरों को खिलाकर जब वह परात में बचे आटे की दो लोई को अपने लिए बेलती तो सुख का एक असीमित सागर सीने में मचलता। उसका मस्त चेहरा देखकर अकसर मजदूर उसके संग ब्याह रचाने की बात कहते तो वह खिलखिलाकर हँस पड़ती। फिर गम्भीर हो पूछती एक रोटी और ले ले ताकि फजूल बातों की जगह न तेरे पेट में बचे न दिमाग में ....मजदूर खिसियाकर ....सोना जमीन पर थूक देती जैसे कह रही हो कि इस दुनिया के हर कोने पर मर्द मिलेगा, कभी प्रेमी के रूप में तो कभी बलात्कारी के रूप में। मगर जो पति ढूँढ़ने निकलो तो .... आदमी नज़र नहीं आएगा, जिसके साथ उम्र एक छत के नीचे गुज़ार दी जाए।''[16]

''नयी हुकूमत' कहानी माँ और पुत्र के प्रेम की कहानी है। हाजरा का पति अल्ताफ नयी शादी कर लेता है। उस घर

को छोड़कर हाजरा अपनी बूढ़ी माँ के पास चली आती है। वृद्धावस्था में माँ का सबसे बड़ा सहारा उसका बेटा होता है। उसका बेटा अनवर सऊदी अरब से लौटा है। वह अपनी माँ के साथ है और अपने पिता से अलग रहने का फैसला करता है। हाजरा का नया ठिकाना उसका बेटा है-''... रेगिस्तान से अपने साथ कमाया धन ही नहीं बल्कि कुछ सपने भी साथ लाया है। उस सपने में माँ भी है। बचपन का वह घर भी है जहाँ नये समीकरण की कोई गुंजाइश नहीं है। यह सारी बातें वह बाप से कहकर आया है। घर माँ को नहीं, बाप को अपनी नयी दुल्हन के संग छोड़ना होगा, क्योंकि वह कटे हैं परिवार की इकाई से। यह सब वह माँ को नहीं बताना चाहता है, न यह कहना चाहता है कि उसने माँ की खातिर बाप से लड़ाई कर ली है''[17]

कहानी-संग्रह में इस्लामी संस्कृति एवं प्रसंगों को स्त्री के अधिकारों का आधार बनाया गया है। इस्लाम धर्म के प्रसंगों यथा हज़रत इब्राहीम की बीवी हाजरा का मिस्र छोड़कर सहरा (रेगिस्तान) में जाकर रहना और हज़रत खदीजा व पैगम्बर के निकाह का प्रसंग नारी सशक्तीकरण का उद्घोष है। वैवाहिक सम्बन्धों में स्त्री की आज़ादी के अधिकार का उदाहरण पैगम्बर के निकाह से दृष्टव्य है- ''जैसी रिवायत है कि हज़रत खदीजा ने खुद अपनी पसन्द का इजहार करते हुए पैगम्बर से शादी की बात कही थी। इससे बढ़कर और कौन-सा सबूत होगा। फिर औरत को पूरा हक़ है कि वह अपने साथ की जा रही ज्यादती के खिलाफ आवाज़ उठाए और निकाह के वक्त बाकायदा वह शादी से इनकार कर सकती है अगर शौहर उसको पसन्द नहीं है या फिर यह शादी जोर-जबरदस्ती या लालच, खौफ से हो रही हो।''[18]

इस्लामी कानूनों की दृष्टि से 'खुदा की वापसी' और 'दिलआरा' महत्त्वपूर्ण कहानियाँ हैं। 'खुदा की वापसी' की फरजाना और 'दिलआरा' की साजदा बेगम ऐसे पात्र हैं जो इस्लामी कानूनों का अध्ययन करके मुस्लिम नारी मुक्ति का सन्देश देते हैं। मुस्लिम समाज में विवाह के अवसर पर 'मेहर' का प्रसंग बहुत महत्त्वपूर्ण होता है। 'खुदा की वापसी' मेहर के प्रश्न को गम्भीरता से लेती है। हज़रत मूसा की शादी में मेहर का प्रसंग विचारणीय है जो युवकों को मेहर की अहमियत बताता है- ...हज़रत मूसा ने प्यास की शिद्दत में जिस तरह पानी माँगकर अपनी प्यास बुझायी थी, उस अनुशासन की तारीफ बेटी ने घर लौटकर अपने बाप को बतायी थी। उस मुसाफिर को देख अपनी लड़कियों में से एक का विवाह हज़रत मूसा से करने का इरादा बाप ने बनाया, मगर मूसा के पास मेहर के पैसे नहीं थे। सो बात तय हुई कि वह बदले में दो वर्ष ससुराल की बकरियाँ चराएँगे...।''[19]

इस्लाम धर्म के आधार पर नारी सशक्तीकरण के साथ-साथ भारतीय मुस्लिम परिवारों की त्रासदी को भी यह कहानियाँ रेखांकित करती हैं। भारत का मुस्लिम समुदाय मुख्य रूप से निम्न मध्यवर्गीय आर्थिक स्थिति में है। इस वर्ग की गरीबी जगजाहिर है। इन कहानियों में मुस्लिम परिवारों की स्थिति का यथार्थ वर्णन प्रस्तुत किया गया है। इसके साथ-साथ आज़ादी के बाद जमींदारी छिनने के कारण मुस्लिम सामन्तों की दयनीय स्थिति के प्रति भी सहानुभूति दिखायी देती है। 'दहलीज' कहानी में हुमैरा की दादी का कथन दृष्टव्य है- ''मैं जानती हूँ ....पहले जमीदारी छीनी फिर अच्छे घरों के लड़कों को नौकरी देने में आना-कानी की गयी और अब उनकी औलादों से सौतेला बरताव हो रहा है ...आदमी जाए कहाँ?'' दादी ने कान में इत्र से भीगी रुई को निकालकर सूँघा।''[20]

निष्कर्षतः ये कहानियाँ मुस्लिम स्त्री के प्रत्येक पक्ष का उद्घाटन करती हैं। इस्लाम द्वारा दिये गये स्त्री अधिकारों को पहले प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए जिनका अधिग्रहण पुरुष वर्चस्ववाद ने अपनी मनमानी व्याख्या से कर लिया है। मुस्लिम नारी मुक्ति का आह्वान करते इनके स्त्री पात्र नयी सामाजिक संरचना की आवश्यकता पर बल देते हैं। मुस्लिम नारी की समस्याओं और समाधान हेतु यह कहानियाँ 'मील का पत्थर' हैं।

सन्दर्भ-

1. नासिरा शर्मा, खुदा की वापसी, पृ. 7, भारतीय ज्ञानपीठ 18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली
2. वही, पृ. 9
3. वही, पृ 9
4. वही, पृ. 18
5. वही, पृ. 24
6. वही, पृ. 43
7. वही, पृ. 43
8. वही, पृ. 54
9. वही, पृ. 58
10. वही, पृ. 62
11. वही, पृ. 73
12. वही, पृ. 92-93
13. वही, पृ. 107-108
14. वही, पृ. 111
15. वही, पृ. 122
16. वही, पृ. 156
17. वही, पृ. 165-166
18. वही, पृ. 85
19. वही, पृ. 37
20. वही, पृ. 65

बौद्ध धर्म का आध्यात्मिक पक्ष और हिन्दी लेखन

डॉ. श्रीप्रकाश यादव

सत्य, अहिंसा एवं करुणा के महान् उद्घोषक भगवान बुद्ध का आविर्भाव भार में आज से लगभग ढ़ाई हज़ार वर्ष पहले हुआ था। बुद्ध द्वारा दर्शाये गये मध्यम मार्ग के आठ सिद्धान्त है - 1. सही दृष्टि, 2. सही संकल्प, 3. सच बोलना, 4. सही कर्म, 5. उचित जीविका, 6. उचित प्रयास, 7. सही स्मृति तथा 8. सही समाधि। यह निर्वाण का मार्ग है। निर्वाण के बाद मनुष्य जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हो जाता है। भगवान बुद्ध का सम्यक्भिक्षाटन, नियमित ध्यान तथा जनकल्याणकारी उपदेश-कर्म लगातार चलता रहा। परिणामतः बुद्ध प्रेम और करुणा के मूर्तरूप में पूजे जाने लगे, उन्होंने समाज में व्याप्त कर्मकाण्ड और आडम्बर को गलत बताया, मारक जाति-भेद को अमानवीय बताया, आम जनता की भाषा को अपनाया, मानव समुदाय को कर्म की प्रेरणा दी तथा बुद्धि और तर्क को महत्त्व दिया। बुद्ध की मृत्यु के बहुत समय बाद बौद्ध धर्म की दो प्रमुख धाराएँ हो गई- 1. थेरबाद तथा 2. महायान। 'त्रिपिटक' बौद्ध धर्म का सर्वमान्य ग्रन्थ है, जिसमें बौद्ध धर्म की समस्त जानकारियाँ संग्रहीत है। एक सर्वेक्षण के अनुसार विश्व की लगभग एक तिहाई आबादी आज की बौद्ध धर्मावलम्बी है जिससे बौद्ध धर्म की विशालता एवं आध्यात्मिक गहराई का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

बौद्ध धर्म का सर्वोच्च आध्यात्मिक मूल्य है प्राणि मात्र के प्रति करुणा। वस्तुतः गौतम बुद्ध ने संसार के प्राणियों को दुःखी अनुभव करते हुए उनके दुःख दूर करने का संकल्प लिया था। यद्यपि महात्मा बुद्ध से भी पूर्व साहित्य की चिन्ता का विषय दुःख मोचन ही रहा है, ऐसा प्रतीत होता है। आदि कवि का प्रथम अनुष्टुप करुणा से ही ओत-प्रेत है -

> माँ निषाद! प्रतिष्ठा त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
> यतक्रौचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्।।[1]

इस प्रकार यहाँ शोक ही श्लोकत्व को प्राप्त हुआ है। यद्यपि भारतीय साहित्य का आरम्भ ही करुणा से हुआ है, किन्तु गौतम बुद्ध ने इस मूल लोक कल्याणकारी मनोभाव का एक अनुशासित अनुष्ठान ईसा पूर्व पाँचवीं सदी के उत्तरार्द्ध में विधिवत् आरम्भ किया।

हिन्दी साहित्य का आरम्भ होने से बहुत पहले ही गौतम बुद्ध का जन्म कपिलवस्तु में हो चुका था। इसके बाद कई शताब्दियों तक गौतम बुद्ध का प्रभाव न सिर्फ भारत में बल्कि विश्व के एक बड़े भाग में व्याप्त हो चुका था। स्वाभाविक रूप से साहित्य भी इस प्रभाव से अछूता नहीं रहा। दार्शनिक एवं धार्मिक विषय हिन्दी काव्य धारा की कदाचित सबसे प्राचीन वर्ण्यवस्तु है। इनका अस्तित्व उसके अपभ्रंश के रूप में भी पाया जाता है। विक्रम की 9वीं शताब्दी में सर्वप्रथम, हमें बौद्ध, सिद्धों की रचनाएँ मिलती है। जिनमें वज्रयान एवं सहजयान सम्बन्धी साम्प्रदायिक विचारों और उनकी साधनाओं की चर्चा की गई है।[2]

भक्त कवि गोस्वामी तुलसीदास की भक्ति में करुणा की अभिव्यक्ति मिलती है। उनकी भक्ति महायान के अनुरूप है साथ ही उनके राम बोधिसत्व की तरह लोक कल्याण और लोक रक्षा के लिए प्रत्यनशील है। सभी सन्तों तथा भक्त कवियों ने अपने आराध्य के प्रति करुणा का भाव निहित है।[3] आधुनिक युगीन काव्य में गौतम बुद्ध का प्रभाव कई जगह बहुत तेजस्वी रूप में दिखता है। 'यशोधरा' में महायानी बोधसत्व के आदर्श परिलक्षित होते है। अपने से पहले अपनों की मुक्ति को गीता कहा गया है। यशोधरा स्वयं चाहती है कि गौतम बुद्ध द्वारा किये गये श्रम से पूरा विश्व लाभान्वित हो। 'यशोधरा' में मैथिलीशरण गुप्त जी की वैष्णव भावना इतनी उच्च श्रेणी की है कि गौतम की करुणा विश्व के प्रत्येक जीव का दुःख दूर करने के लिए फूट पड़ी है।[4]

छायावादी काव्य में भी गौतम बुद्ध का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है। जयशंकर प्रसाद की 'कामायनी' पर शैव दर्शन के साथ ही दूसरा प्रभाव बौद्ध दर्शन की करुणा का भी पड़ा है। छायावादी काव्य में सृष्टि को सत्य और सुन्दर माना गया है। यहाँ निष्काम कर्म को स्वीकृति मिली है और प्रवृत्ति मार्ग की प्रतिष्ठा की गई है। क्योंकि कामायनी के अंत में 'प्रेम ज्योति विमलता' में ही सब पहचानने से लगते है। इस प्रकार अंतर्मुखी

प्रवृत्ति लौकिक प्रणय के आह्लाद और नैराश्य से होती हुई विश्ववेदना करुणा की अनुभूति में परिणत हुई है। प्रसाद जी की करुणा श्रद्धा नाम से वैदिक वातावरण में अवतरित है, परन्तु उसके कुछ संस्कार पूर्व प्रभाव से बौद्ध है।[5] वैदिक श्रद्धा के छद्म रूप में पूर्व परिचित बौद्ध करुणा कवि के हृदय में बैठी है। इन्होंने बुद्ध की भांति विश्वमैत्री के लिए करुणा-कामना की है। श्रद्धा जब मनु के सम्पर्क में आती है तो उनके दुःख से द्रवित हो उठती है। प्राणियों की पीड़ा को देखकर उसे अच्छा नहीं लगता। उसने सबका दुःख अपना मानकर सीखा है। करुणा के आवेग ने श्रद्धा की विहिंसा को भी प्रतिघात किया है। कामायनी का हृदय सरल और प्रणय से पूर्ण है। मनु का व्यक्तित्व अपूर्ण और राग की मूर्ति है। वैदिक कामायनी के शरीर में बौद्ध करुणा का प्रवेश है।[6]

महादेवी की कविता में करुणा की अभिव्यक्ति काँटा, पीड़ा, कसक, तीव्र-मधुर अनुभूति के द्वारा हुई है। कहा गया है कि काँटा चुभाकर काँटे का ज्ञान तो संसार देगा ही, परन्तु कलाकार बिना काँटे चुभने की पीड़ा दिये हुए ही उसकी कसक की तीव्र अनुभूति दूसरे तक पहुंचाने में समर्थ है। वेदना उन्हें अत्यन्त तीव्र लगती है और दुःख गिनते रहना प्रिय है। अनुभूतियों से रूप, कल्पना से रंग और भाव-जगत से सौंदर्य पाकर कवयित्री ज्ञान साकार हो जाता है। उन्हें सत्य में जीवन का स्पन्दन मिलता है। पीड़ा इनके मान से लिपटी है। महादेवी ने व्यक्तियों का क्रन्दन पहुंचाना है, वे प्राकृतिक वैभव से दूर रही है। उन्होंने जीवन की लतिका को दुःख पतझर से झुलसती देखा है। वे व्यथा, वेदना, दुर्दिन, दुःख, परिवर्तन, विसर्जन आदि से चीख उठती है। उनकी प्रत्येक कड़ी अश्रु मोतियों से जुड़ी है। वेदना उनके लिए मधु मदिरा की धारा है। बुद्ध की करुणा का इन्होंने श्रद्धा बुद्धि से विश्लेषण किया है। इन्होंने बुद्ध की अहिंसा को प्राण माना है। बुद्ध के प्रति इनका भक्तिमय अनुराग है साथ ही छायावाद की सामान्य वेदनामयी धारा का प्रभाव है।[7]

इस प्रकार देखा जाए तो आधुनिक काल और उत्तर आधुनिक काल के साहित्य की कई धारायें बौद्ध प्रभाव से सम्पृक्त रही है। समकालीन विमर्शों में भी गौतम बुद्ध की मूल भावना निहित है। करुणा, मैत्री, समता और अहिंसा के ये उदात्त मानवीय मूल्य आगे के साहित्य की भी प्रेरणा बनेगी। हिंसा और युयुत्सा से वर्तमान युग में गौतम बुद्ध के द्वारा पहचाने गये इन उदात्त मूल्य की महत्ता और भी बढ़ गयी है।

सन्दर्भ-

1. डॉ. आद्या प्रसाद मिश्र, संस्कृत निबन्धमाला, पृ. 120
2. परशुराम चतुर्वेदी, संत काव्य, भूमिका, किताब महल इलाहाबाद,1992 पृ. 4
3. वसुन्धरा मिश्रा, प्रज्ञा, काशी विश्वविद्यालय, पत्रिका, पृ. 57 अंक 32 (भाग-2), वर्ष 1987
4. मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा, साहित्य सदन, चिरगाँव, वि.स. 2039, पृ. 140, 160, 48
5. जयशंकर प्रसाद, कामायनी, वि.वि. प्रकाशन, वाराणसी, 1978, पृ. 85, 83, 157
6. वही, पृ. 53, 141, 230
7. महादेवी वर्मा, यामा, भारती भंडार, इलाहाबाद, 1971 पृ. 75, 76, 181, 90, 74, 214

असि. प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, जनता महाविद्यालय, अजीतमल औरैया, (उ.प्र.)